त्रयीवाक्

प्रो. श्रीनारायण मिश्र



प्रकाशक :
अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्
हजरतगंज, लखनऊ

त्रयी वाक्

प्रो. श्रीनारायण मिश्र



अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
महात्मा गाँधी मार्ग, हज़रतगंज
लखनऊ – 226 001

प्रकाशक :
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
महात्मा गाँधी मार्ग, हज़रतगञ्ज
लखनऊ – 226 001
फोन – 223962

प्रथम संस्करण
वर्ष 2002

मूल्य – रु. 45.00

मुद्रक :
पनार आफसेट
इन्द्रा अनुष्ठान
गुईन रोड, अमीनाबाद
लखनऊ
फोन : 213565, 223757

Publishers' Note

It was with the inspiration and guidance of the Late Shri Gopal Chandra Sinha, Founder-Secretary of the Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow that two Lecture Series were started by the Parishad. The one is in memory of its Founder-President, the late Prof. K.A.S. Iyer, an erudite scholar of Sanskrit Language and Literature and the other one in memory of the late Prof. Mangal Deva Shastri, a great scholar of the Vedic Literature. It was decided that these lectures be published in the Ṛtam, the multi-lingual Half-Yearly Research Journal of the Parishad and also separately in the form of books. It is in pursuance of this policy that the two lectures delivered by Prof. Sri Narayana Misra, a great scholar of Sanskrit and Indian Philosophy and Professor of Sanskrit in the Benaras Hindu University are being published in the columns of the Ṛtam. They are also being brought out separately in the form of a book.

The lectures contained herein are entitled as under :

1. त्रयीवाक्
2. वाक् का मूल स्वरूप

Professor Misra is a well known scholar of Sanskrit and Indian Philosophy. The vastness of his knowledge is exemplary. He combines in him the depth of the traditional Pandits and the critical faculty of the modern scholars.

The Parishad puts on record its deep sense of gratitude to Professor Misra for delivering these lectures under the auspices of the Parishad. I shall be failing in my duty if I do not acknowledge the keen interest evinced by Sri Vishwa Mohan Mehta and his young and energetic son, Mr. Manish Mehta, Proprietor of Pnar Offset. But for their co-operation, the lectures would not have seen the light of the day.

Kṛṣṇa-Janmāṣṭamī
31st August, 2002

A. K. Kalia
Secretary

त्रयी वाक्

वाक् अर्थात् व्यक्त शब्द मानव जीवन के सकल व्यवहार के निर्वाह के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि चेष्टा–अभिनय आदि से भी कुछ व्यवहारों का सम्पादन हो सकता है जैसा कि महाभाष्यकार **पतञ्जलि** आदि ने कहा है– **'अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था विज्ञायन्तेऽक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च'**[1] तथापि यह सुस्पष्ट है कि हम शब्द से अपने मनोभावों का श्रोता तक संक्रमण जितनी सुगमता और स्पष्टता के साथ कर सकते हैं उस प्रकार चेष्टा आदि से नहीं। मुखस्मित आदि से हर्ष की अभिव्यक्ति तो हो सकती है, किन्तु उसके कारण आदि की अभिव्यक्ति पूर्णरूपेण नहीं हो सकती है। यदि आंशिक रूप में हो भी जाये तो भी वह बहुत कष्टकर और आयाससाध्य है। इसीलिए महर्षि **यास्क** ने कहा है– **'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।**[2]**'** यहाँ **'अणीयस्त्व'** का अर्थ है सरलता, स्पष्टता। **दण्डी** ने वाक् का महत्त्व स्पष्ट करते हुये कहा है–

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते।।
इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[3]

बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि जब हमारे जीवन में दीपकादि प्रकाश उपलब्ध नहीं होते हैं तब शब्द ही प्रकाशक होता है। उदाहरणार्थ, वर्षा ऋतु की घनान्धकारपूर्ण उस रात्रि को ले सकते हैं जिसमें किसी कारण कोई लौकिक प्रकाश उपलब्ध न हो। उस दशा में यदि कोई व्यक्ति दूर से आवाहन करता हो तो उसका शब्द ही हमारे लिए प्रकाश का कार्य करता है। उसी के आधार पर हमें दिशा–निर्देश प्राप्त होता है और हम उस व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं। इसलिए वैयाकरणों ने शब्द को **'प्रकाश'–'स्वप्रकाश'** कहा है। अपने जीवन में अधिकाधिक पदार्थों का ज्ञान भी हमें शब्द से ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार वाक् की मानव–जीवन के व्यवहारों के सुगम रूप से सम्पादनार्थ कितनी उपयोगिता है– यह सुस्पष्ट है। वाक् की इसी उपयोगिता अैर महत्ता को समझते हुये वैयाकरणों

---

1. महाभाष्य 2.1.1
2. निरूक्त 1.17.4
3. काव्यादर्श, 1.3–4

ने इसे ही दर्शन में परमतत्त्व 'ब्रह्म' कहा है। वैयाकरण–मत में इसी वाग्ब्रह्म से इस समस्त जगत का विकास माना गया है–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[4]

तथा–

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत।।[5] इत्यादि।

द्वितीय पद्य में **'आम्नायविदो विदुः'** इस कथन के समर्थन में **हरिवृत्ति** में दो ऋङ्मन्त्र उद्धृत किये गये हैं–

सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्तरूपामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्।
उतान्ये विदुरन्यामिव च एनां नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्।।[6]

और

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्त्यम्।
अथेद्वाग्बुभुजे वागुवाच पुरूत्रा वाचो न पदं यच्च नाह।।[7]

इनमें प्रथम मन्त्र तो उपरिलिखित प्रथम पक्ष की हरिवृत्ति में उदघृत है और द्वितीय मन्त्र द्वितीय पद्य की वृत्ति में।

प्रसङ्गात् यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि **भर्तृहरि** के समय **'परिणाम'** और **'विवर्त्त'** शब्द में पारिभाषिकता नहीं आयी थी। नहीं तो एक ही पद्य में वे इस जगत् को शब्दब्रह्म का परिणाम तात्त्विक परिवर्तन और विवर्त्त–अतात्त्विक परिवर्तन नहीं कहते। भिन्न–भिन्न अवसरों पर कदाचित् किसी आचार्य का कथन तो परस्पर विरूद्ध हो सकता है, किन्तु एक ही अवसर पर ऐसा कथन सम्भव नहीं है। उस समय ये दोनों शब्द समानार्थक माने जाते थे। अत एव **भर्त्तृहरि** ने बिना किसी विशेष के यथासम्भव दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। यदि पारिभाषिक दृष्टि से यह जगत् शब्दब्रह्म का परिणाम है अथवा विवर्त्त– यह जिज्ञासा हो तो उसकी शान्ति के लिए यही कहा जा सकता है कि यह जगत् उसका अतात्त्विक परिवर्तन है, विवर्त्त है, परिणाम, अर्थात् तात्त्विक परिवर्तन कथमपि नहीं है। अस्तु, इस विषय में अधिक विवेचन यहाँ अप्रासङ्गिक है।

व्याकरणशास्त्रानुसार वाक् का त्रैविध्य

इस वाक् के तीन भेद अथवा तीन अवस्थायें हैं– **वैखरी, मध्यमा** और **पश्यन्ती। वाक्यपदीय** में **भर्त्तृहरि** ने स्पष्ट का है–

---

4. वाक्यपदीय, 1.1
5. तत्रैव, 1.112 (120)
6. तदेव, 1.1 (वृत्ति)
7. तदेव, 1.120 (वृत्ति)

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्।।[8]

'एतद् व्याकरणशास्त्रं त्रय्या वाचोऽद्भुतं परं पदम्' इस प्रकार अन्वय विवक्षित है। अतः इस पद्य में निर्दिष्ट **'परं पदम्'** इस उक्ति को **'परा वाक्'** का संकेत नहीं माना जा सकता है।

वैखरी–

भर्त्तृहरि ने अपनी **वाक्यपदीय**–वृत्ति में **वैखरी** शब्द की व्युत्पत्ति नहीं दी है, केवल इसका स्वभाववर्णन इस प्रकार किया है–

"परैः संवेद्यं यस्याः श्रोतविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी।[9]" इसका अन्वय इस प्रकार है– **'यस्याः प्रतिनियतं श्रुतिरूपं श्रोत्रविषयत्वेन परैः संवेद्यं सा वैखरी।'** तात्पर्य यह है कि जिस वाक् का श्रवणयोग्य स्वरूप दूसरों द्वारा सुना जा सके वही वाक् वैखरी है। अन्य आचार्यों ने **वैखरी** शब्द की व्युत्पत्ति भी की है–

'विखर इति देहेन्द्रियसंघात उच्यते, तत्र भवा वैखरी' यह व्युत्पत्ति जयन्तभट्ट ने अपनी **न्यायमञ्जरी**[10] में की है। श्रृङ्गारप्रकाश में इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है– **'विशिष्टं खं सुखमिति दुःखमिति वा राति प्रयच्छति इति विखरो देहेन्द्रियसंघातः।..........तत्र भवा वैखरी।**[11] **अभिनवगुप्त** ने अपनी **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी** में यही कहा है– **'विखरः शरीरं तत्र भवा तत्पर्यन्तचेष्टासम्पादिकेत्येर्थः।'**[12] **'स्याद्वादमञ्जरी'** में जैन सम्प्रदाय के विख्यात आचार्य **वादिदेव सूरि** ने कुछ भिन्न प्रकार से **वैखरी** शब्द की व्युत्पत्ति की है–

वक्तृभिः विशिष्टायां खरावस्थायां स्पष्टरूपायां भवा वैखरी।[13]

इसका तात्पर्य यही है कि **विखर** का अर्थ है विशिष्ट खरावस्था, अर्थात् वक्ता की वह अवस्था जिसमें वह किसी भी शब्द का व्यक्त रूप में अकारादि वर्णों का सुस्पष्ट रूप में उच्चारण करता है। इससे श्रोता वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द का स्पष्टतया श्रवण कर सकता है। **मध्यमा** और **पश्यन्ती** शब्द की आन्तरिक अवस्थायें हैं। अतः इन अवस्थाओं में श्रोता शब्द को सुन नहीं पाता है, क्योंकि वह शब्द वक्ता के शरीर के अन्दर ही रहता है। **वैखरी** अवस्था में तो शब्द इतना सुव्यक्त हो जाता है कि श्रोता के साथ–साथ वक्ता भी अपने शब्दों को सुन सकता है। इसलिए निष्कर्ष यही है कि श्रवणयोग्य शब्द को ही वैखरी कहा जाता है। पूर्वोद्धृत **हरि**-वचन– **'परैः संवेद्यं यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी'** से भी **वादिदेव सूरि** का मत समर्थित है। इस **हरि**-वचन में प्रयुक्त **'श्रोत्रविषयत्वेन'** पद का अर्थ **वृषभदेव**-कृत **'पद्धति'** में यह दिया गया है–

---

8. वाक्यपदीय, 1.134 (142)
9. तदेव
10. न्यायमञ्जरी, पृ. 343
11. श्रृङ्गारप्रकाश (भाग–3), पृ. 366
12. ई. प्र. वि. वि. (भाग–3), पृ. 187
13. स्याद्वादमञ्जरी, 1.7

'श्रोत्रग्राह्यत्वेन। श्रोत्रग्राह्येण रूपेण यत् संवेद्यते।'

इसी प्रकार **'प्रतिनियतम्'** का अर्थ **वृषभदेव** ने– **'विशिष्टानुपूर्वीनियतं पदान्तर–व्यवच्छिन्नम्**[14]**'** किया है। इससे स्पष्ट है कि **वादिदेव** ने **वैखरी** शब्द का जो उपर्युक्त अर्थ किया है वह वैयाकरण–सम्प्रदाय से भी प्रमाणित है।

'अलङ्कारसर्वस्व' की टीका में **राजानक जयरथ** ने तो **वादिदेव** की व्युत्पत्ति से भी विलक्षण व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है–

'विशिष्टं खमाकाशं मुखरूपं राति गृह्णातीति विखरः प्राणवायुः सञ्चारविशिष्टो वर्णोच्चारः, तेनाभिव्यक्ता वैखरीति।[15]**'**

यह व्युत्पत्ति शब्दतः भिन्न होने पर भी तात्पर्यतः पूर्वोक्त व्युत्पत्तियों से भिन्न नहीं है।

ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि उपर्युक्त सभी व्युत्पत्तियाँ व्याकरणशास्त्र के विषयभूत व्यक्तर्वणा **वैखरी** को ध्यान में रखकर की गयी प्रतीत होती हैं, इसके वास्तविक अर्थ के अन्तर्गत तो सभी प्रकार के श्रवणयोग्य शब्द आ जाते हैं चाहे वे व्यक्त शब्द हों अथवा अव्यक्त। अत एव **हरिवृत्ति** में ही कहा गया है–

'शिलष्टा व्यक्तवर्णसमुच्चारणा प्रसिद्धसाधुभावा भ्रष्टसंस्कारा च। तथा याऽक्षे या दुन्दुभौ या वेणौ या वीणायामित्यपरिणामभेदा।'[16]

अत एव वृत्ति की **'पद्धति'** नामक टीका में **वृषभदेव** ने **तैत्तिरीय संहिता** के इस गद्य को उद्धृत किया है–

'वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामत्। यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत्। सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति, या दुन्दुभौ या वीणायाम्[17]**'।**

यह वाक्य **'पद्धति'** टीका में शुद्ध रूप में मुद्रित नहीं है। अतः यद्यपि **वैखरी** शब्द श्रवणयोग्य व्यक्ताव्यक्त उभयविध शब्दों का वाचक है तथापि प्रसङ्गानुसार यह व्याकरणशास्त्र के विषय व्यक्तवर्ण, श्रवणयोग्य अर्थवान् शब्दमात्र के लिए, शक्तिसंकोच अथवा योगरूढ़ि के आधार पर प्रयुक्त हुआ है। यदि भ्रष्टसंस्कार कोई व्यक्तवर्ण शब्द–गावी, गोणी आदि भी हो तो उसके लिए भी नहीं, अव्यक्त शब्द के लिए इस प्रसङ्ग में प्रयुक्त होने की तो शङ्कामात्र भी नहीं है। यही स्थिति वाक् शब्द की भी है। मूलतः यह शब्दमात्र के लिए प्रयुक्त होता रहा है जैसा कि पूर्वोद्धृत **तैत्तिरीय-संहिता** के वचन से स्पष्ट है, परन्तु व्याकरणशास्त्र व्यक्त साधु शब्दों के बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों स्वरूपों के लिए ही **'वाक्यपदीय'** आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार का संकुचितार्थक वाक् शब्द का प्रयोग **तैत्तिरीय-संहिता** में भी हुआ है। यथा–

---

14. वा. प. वृत्ति–1.134 (142) तथा पद्धति–पृ. 213 (वा. प. 1.134)
15. अलङ्कारसर्वस्वटीका, पृ. 2
16. हरिवृत्ति, 1.134 (142)
17. तै. सं., 6.1.4

'वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा, इन्द्रमब्रुवन्– इमां नो व्याकुर्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।'[18]

यह **वैखरीपद** प्रतिपाद्य साधु शब्द व्याकरणशास्त्र की प्रवृत्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी को समक्ष रखकर कल्पित प्रकृति–प्रत्ययादि–विभाग द्वारा यह शास्त्र शब्द के साधुत्व का ज्ञापक है। व्यवहार के लिए तो यह आवश्यक है ही। अन्तर केवल इतना है कि व्यवहार–निर्वाह के लिए साधु **वैखरी** और असाधु **वैखरी** वैयाकरणों के मत में समान रूप से अभिप्रेत अर्थ का प्रतिपादन करती है, किन्तु साधु के प्रयोग से धर्म और असाधु के प्रयोग से अधर्म के अर्जन में अन्तर है–

समानायामर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियमः।'[19]

नैयायिक तो असाधु शब्दों में अर्थबोधकता नहीं मानते। उनका कहना है कि असाधु साधु के अनुमापक होते हैं और अनुमित साधु शब्द में ही अर्थ-बोधकता है–

असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते।
वाचकत्वाऽविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोः।।[20]

पूर्व में कहा जा चुका है कि साधुत्वविशिष्ट **वैखरी** शब्द ही व्याकरणशास्त्र का विषय है। इसी से इसकी व्यावहारिक महत्ता स्पष्ट है। इसीलिए **वृषभदेव** ने यहाँ तक कहा है कि वैखरी शब्द का व्याकरणशास्त्र द्वारा संस्कार कर दिये जाने पर सभी शब्द– **मध्यमा** और **पश्यन्ती** भी संस्कृत–कृत संस्कार हो जाते हैं–

येयं वैखरी वाक् तस्यां संस्क्रियमाणायां सर्वा एव संस्कृता भवन्ति, तज्जातीयकत्वात्।'[21]

यह वक्तव्य शब्दों के विषय में अर्थवादमात्र है, वस्तुस्थिति की अभिव्यक्ति नहीं, क्योंकि शब्दनित्यत्वादी वैयाकरणों के मत में शब्द पहले असंस्कृत था और पश्चात् व्याकरण के सूत्रों द्वारा इसका संस्कार–इसमें साधुत्व का आधार होता है, यह मान्यता है ही नहीं। साधुत्व तो पूर्वसिद्ध है, व्याकरणशास्त्र तो उसका ज्ञापकमात्र है, उसमें संस्काराधायक नहीं है। अतः **'सर्वाः संस्कृता भवन्ति'** इस वक्तव्य का तात्पर्य यही है कि सभी–**पश्यन्ती** और **मध्यमा** के साधुत्व का बोध **वैखरी** के साधुत्वबोध से हो जाता है। यतः **वैखरी मध्यमा** वाक् से ही वर्णादिभेदव्यञ्जक प्राणवृत्ति द्वारा उत्पन्न होती है। अत एव मध्यमा का अनुमापक अभिव्यञ्जक है और श्रोत्रोपलब्धि विषय होकर लोकव्यवहार का निर्वाहक हो जाती है। अत एव **हरिवृत्ति** में कहा गया है–

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक्प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना।।[22]

---

18. तै. सं., 6.4.7
19. महाभाष्य, पस्पशाह्निक
20. वाक्यपदीय, 3.3.30
21. पद्धति, वाक्यपदीय, 1.134 (142)
22. हरिवृत्ति, 1.134 (142)

वृषभदेव ने इस विषय को बहुत स्पष्ट कर दिया है–

'स चायं पश्यन्ती–प्रेरितः प्राणो मध्यमां परिपुष्णाति। परिपोषश्च तस्याः श्रोत्रोपलभ्यस्वरूपनिष्पत्तिः।......सैव हि मध्यमा प्राणेन करणेषूपनिचिता श्रोत्रोपलभ्यतां याता वैखरी भवति।.....सा हि श्रोत्रेणोपलब्धा व्यवहारनिमित्तम्।'[23]

इसी प्रकार का वैखरी का स्वरूप शैवागमाचार्य सोमानन्द ने भी 'शिवदृष्टि' में प्रस्तुत किया है–

सम्प्राप्ता वक्त्रकुहरं कण्ठादिस्थानभागतः।
वैखरी कथ्यते सैव बहिर्वासनया क्रमात्।।[24]

इस पर उत्पलदेव का वचन भी द्रष्टव्य है–

अत्रापि बिन्दुनादमरुत्क्रमात्।[25]

सा पश्यन्ती 'सम्प्राप्ता वक्त्रकुहरम्' इति योज्यम्। तदुक्तम्–

'प्राणो वर्णानभिव्यज्यवर्णेष्वेव प्रलीयते'[26] इति।

ततो वक्त्रोदरं प्राप्ता कण्ठादिस्थानभागेषु विभक्तककारादिवर्णरूपा वैखरी वर्ण्यते–

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना।।[27]

इस हरिवचन का आशय स्पन्दकारिका की स्वोपज्ञ 'विवृत्ति' में रामकण्ठाचार्य ने स्पष्टरूप में प्रतिपादित किया है–

यदा तु प्रयोक्तृपुरुषेच्छानुविधायिप्रयत्नप्रेरिते प्राणाभिधाने मरुति शारीरोद्देशेषु उरःप्रभृतिषु जाताभिधाते सैव सामान्यध्वनिरूपा स्वरव्यञ्जनादिभेदविभक्ताकारादिरूपतां प्रयोक्तृभेदेऽपि अव्यभिचरन्ती प्रसरति तदा वर्णभेदादिव्यञ्जकप्राणमात्राश्रया वैखर्यभिधानवाग्रूपा विकृत्तिरित्युक्तम्–'स्थानेषु...........निबन्धना।' इति तदापि असौ देशकालाधारप्रयोक्त्रादिवैचित्र्यैः अविकार्यनियतवर्णसमुदायात्मिकतां पुरुषेच्छादिसापेक्षव्यक्तिकाम् अजहती नित्यैव संविद्रयूत्वमपि अनुगतमेव मध्यमावदस्यामपीति स्वमार्गस्थत्वमप्यस्या न व्याहन्यते। एवमसौ वैखरीरूपतामापन्नापि मातृकावर्गवर्णपदवाक्यार्थभेदन अपर्यन्तं प्रसरं गृहणाति।।[28] 'लघुमञ्जूषा'[29] में भी वैखरी का

---

23. पद्धति, 1.134 (142)
24. शिवदृष्टि, 2.7
25.
26. वाक्यपदीय, 1.115-16
27. तत्रैव 1.134 (142) हरिवृत्ति
28. स्पन्दकारिकाविवृत्ति 4.18
29. लघुमञ्जूषा, पृ. 178

यही स्वरूप वर्णित है किन्तु वर्णना संक्षिप्त है। वहाँ एक विशेष बात यह है कि **वैखरी को 'विराडधिदेवत्या' 'ओम्' (प्रणव)** का ही **व्यान** और **उदान** वायु के साहित्य से परिवर्त्तित रूप कहा गया है– **'प्रणव एव व्यानोपादानाभ्यां सह वैखरीरूपं प्रतिपद्यते।'**

एक विषय और भी ध्यान देने योग्य है। कहीं **पश्यन्ती** के **वैखरीरूप** धारण करने की बात कही गयी है तो कहीं मध्यमा के। परन्तु इसमें तात्त्विक भेद नहीं है, क्योंकि व्याकरणसम्प्रदाय में वाक् का मूल स्वरूप **पश्यन्ती** है, जो एक विशेषदशा में मध्यमारूप में और अन्य विशेषदशा में **वैखरी** रूप में विवर्तित होती है।

वैखरी का यही स्वरूप **'स्याद्वादरत्नाकर',**[30] **'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी'**[31] आदि ग्रन्थों में वर्णित है।

आनुपूर्वी विशेषविशिष्ट वर्णसमूहात्मक **वैखरी** में सभी क्रमिक वर्णों का कैसे और किस प्रकार का युगपत् ज्ञान होता है जिससे **मध्यमा** का पूर्ण अभिव्यञ्जन हो पाता है– इस विषय पर **मध्यमा** और **पश्यन्ती** के स्वरूपों का निरूपण करने के पश्चात् विचार किया जायेगा।

मध्यमा–

वाक् की यह द्वितीय अवस्था है। इसे **मध्यमा** इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह प्रथम **पश्यन्ती** और तृतीय **वैखरी** के मध्य में आती है–

'वैखरीपश्यन्त्योर्मध्ये भावान्मध्यमा वागिति।'[32]

वाक्यपदीय की **हरिवृत्ति** में इसका स्वरूप प्रथमतः इस प्रकार वर्णित है–

मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना। सा तु सूक्ष्मप्राण–वृत्त्यनुगता।[33]

इसे अन्तःसन्निवेशिनी कहा गया है, क्योंकि **वैखरी** के समान यह बाह्येन्द्रिय–वागिन्द्रिय– में स्थित नहीं है, अपितु अन्तःकरण में स्थित होती है। **वृषभदेव** ने इसे स्पष्ट कर दिया है–

'अन्तःसन्निवेशिनी इति न करणस्था, किन्त्वेनं शब्दं समुच्चारयामीति बुद्धौ यः शब्दाकारः।'[34]

'परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना' का उपपादन **वृषभदेव** ने इस प्रकार किया है–

बुद्धिमात्रमुपादानं यस्यास्तत्साधारत्वात्। अन्तर्ग्रहणं बाह्यवावच्छेदाय। अन्तःसन्नि–वेशित्वे क्रमवत्तायां परमार्थतश्चाक्रमत्वे हेतुपदर्शनमेवैतत्। बुद्धिस्थत्वादन्तःसन्निवेशित्वं

---

30. 1.7
31. भाग–3, पृ. 187
33. हरिवृत्ति, 1.134 (142)
34. वृषभदेव, 1.134 (142)

क्रमव्याकारेण प्रत्यवभासनात् क्रमवत्त्वमेकबुद्धित्वादव्यतिरेकादक्रमत्वम्।[35]

इससे यही प्रतीत होता है कि **मध्यमा** वाक् में वस्तुतः क्रम होता नहीं है। बुद्धि, जिसे **मध्यमा** का उपादान माना जाता एक–अक्रमा है और उपादान–बुद्धि और उपादेय **मध्यमा** वाक् में कोई पारमार्थिक भेद नहीं है, किन्तु आपाततः बुद्धि में यह वाक् सक्रमारूप में अवभासित होती है– यही द्योतित करने के लिए **'इव'** शब्द का प्रयोग है–

'एकत्वाद् बुद्धेस्तदव्यतिरेकाच्च शब्दस्येव शब्दः।'[36]

जब प्राणवायु उच्चारण स्थान पर अभिघात करता है तब इसकी वृत्ति स्थूल कहलाती है, ऐसा न होने पर जो प्राणवायु की वृत्ति होती है उसे सूक्ष्मवृत्ति कहा जाता है–

'करणान्यभिघ्नतोऽस्य प्राणस्य स्थूला वृत्तिः' वृषभदेव के इस कथन से यह विषय प्रमाणित होता है। **मध्यमा** वाक् में प्राणवायु की सूक्ष्मवृत्ति ही होती है, स्थूलवृत्ति नहीं। स्थूलवृत्ति होने पर तो यह **मध्यमा वैखरी**रूप को धारण कर लेती है। अत एव **हरिवृत्ति** में **मध्यमा** वाक् को **'सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता'** कहा गया है, परन्तु **हरिवृत्ति** में **मध्यमा** वाक् का निरूपण करने वाले **महाभारत** से उद्धृत पद्य–

केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते।।

में इसे **'क्रमरूपानुपातिनी'** यह कहकर इसे क्रमवती कहा गया है। इसीलिए इसी पद्य को उद्धृत कर **जयन्तभट्ट** ने अपनी **'न्यायमञ्जरी'** में मध्यमा को **'अन्तःसंकल्प्यमानक्रमवती'** कहा है–

'या पुनरन्तःसंकल्प्यमानक्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णरूपाभिव्यक्तिरहिता वाक् सा मध्यमोच्यते।'[37]

'न्यायमञ्जरी' के वाक्य में **'अन्तःसंकल्प्यमानक्रमवती'** के स्थान पर **'अन्तःसंकल्प्यमाना क्रमवती'**[38] यह असमस्त पाठ **'स्याद्वादरत्नाकर'** में उपलब्ध है और हमारी दृष्टि में उचित भी यही पाठ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्व में **हरिवृत्ति** में जो कहा गया है कि **मध्यमा** अक्रमा होने पर भी क्रमवती जैसी भासित होती है वह और महाभारतीय श्लोकोक्त सक्रमत्व परस्पर विरुद्ध है। हाँ, पूर्व में **हरिवृत्ति** में एक पक्षान्तर प्रस्तुत किया गया है जिससे महाभारतीय श्लोकोक्त सक्रमत्व का सामञ्जस्य अवश्य है। यह पक्षान्तर है– **क्रमसंहारभावेऽपि प्राणपरिग्रहैव केषाञ्चित्**[39]।'

---

35. वृषभदेव, 1.134 (142)
36. वही
37. न्यायमञ्जरी, पृ. 343
38. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. 89
39. हरिवृत्ति, 1.134 (142)

इसका अभिप्राय वृषभदेव ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

'यद्यप्येकबुद्धिनिष्ठत्वान्नास्ति क्रमः तथापि व्यक्त्या प्राणवृत्त्या तदानीमप्यस्ति परिग्रहोऽस्याः। स्वयमप्युपांशुतरं पठतः तत् स्पष्टम्।'[40]

इस प्रसङ्ग में **'बुद्ध्युपादाना'** आदि वर्णन में **'बुद्धि'** शब्द का और **'क्रम'** शब्द का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है।

बुद्धि शब्द अनेकार्थक है। प्रकृत में हमारी दृष्टि में इसका अर्थ संविद्रूपा **पश्यन्ती** वाक् ही है, अन्य कोई नहीं। कारण यह है कि वाक् का मूलस्वरूप तो **पश्यन्ती** ही है। यही **पश्यन्ती**, मध्यमा और तद्द्वारा **वैखरी** के रूप में विवर्तित होती है– यह व्याकरणदर्शन का सिद्धान्त है, जो मध्यमास्वरूप विवर्त्त है। उसकी वास्तविक उपादानता तो सम्भव नहीं है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसे उपादान कहा जा सकता है। अद्वैत वेदान्त के अनेक आचार्य ब्रह्मविवर्त्तभूत जगत् का उपादान ब्रह्म को मानते हैं। यह उपादानता अविद्याकृत होने से पारमार्थिक नहीं है, अपितु व्यावहारिकमात्र है, क्योंकि उपादेय के पारमार्थिक होने पर ही उपादानत्व की पारमार्थिकता हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार कालशक्ति के द्वारा ही **पश्यन्ती मध्यमा** का उपादान है, स्वरूपतः नहीं। अतः जिस प्रकार अद्वैत दर्शन में जगत् की ब्रह्मगत उपादानता व्यावहारिक है उसी प्रकार **पश्यन्ती** में भी **मध्यमा** की व्यावहारिक उपादानता मानी गयी है। व्याकरणदर्शन के अनुसार **पश्यन्ती** के अतिरिक्त किसी को **मध्यमा** का उपादान मानना सम्भव भी नहीं है। अतः **मध्यमा** के उपादान के रूप में **हरिवृत्ति** में निर्दिष्ट **'बुद्धि'** का अर्थ **'संविद्रूपा पश्यन्ती'** ही है।

अब कुछ विचार क्रम के विषय में भी उचित है। क्रम का अर्थ पौर्वापर्य है। यह पौर्वापर्य वाक् के प्रसंग में दो प्रकार का हो सकता है– वाक् की अवस्थाओं को लेकर और वाक् (शब्द) में वर्णों की आनुपूर्वी को लेकर! अवस्थाओं की दृष्टि से तो वस्तुतः पश्यन्ती मात्र अक्रमा है, क्योंकि व्याकरण सम्प्रदाय में इससे पूर्व वाक् की कोई अन्य अवस्था नहीं है[41]। जिसके पूर्व कोई न हो उसे अक्रमा और जिसके पूर्व कोई अवस्था हो उसे सक्रमा कहना उचित प्रतीत होता है। इस दृष्टि से **पश्यन्ती** अक्रमा है और **मध्यमा** तथा **वैखरी** सक्रमा हैं। **मध्यमा** को पूर्वनिर्दिष्ट पद्य में **'क्रमरूपानुपातिनी'** कहने का यही अभिप्राय प्रतीत होता है। अब यह भी द्रष्टव्य है कि वर्णानुपूर्वी की दृष्टि से मध्यमा को क्रमयुक्त माना जाये अथवा नहीं। **वाक्यपदीय** के द्वितीय काण्ड में एक कारिका है–

अव्यक्तः क्रमवान् शब्द उपांश्यमधीयते।
अक्रमस्तु वितत्येव बुद्धिर्यत्रावतिष्ठते।।[42]

इसकी वृत्ति में यह कहा गया है–

---

40. वृषभदेव, 1.134 (142)

41. इस प्रसङ्ग में–
नित्येषु तु कुतः पूर्वं परं वा परमार्थतः।
एकस्यैव तु सा शक्तिर्यदेवमवभासते।। वा. प. 2.22
तथा– 'नित्येषु हि परमार्थतः पूर्वापरभावोऽसम्भवी, उपाधिकृतो दृश्यत एव'। यह हरिवृत्ति भी स्मरणीय है।

42. वही, 2.19

'उपांशु परमोपांशु व्यक्तो व्यक्ततरश्च विलम्बितो विलम्बितरश्च द्रुतो द्रुततरश्च इत्यादिकाः प्रतिभासा अभिव्यञ्जकध्वनिकृता न पुनः सत्या इति बोद्धव्यम्। तस्माद् यः शब्दो व्यक्त उपांशु कृत्वाऽधीयते सोऽभिव्यञ्जकध्वनिकृतात् क्रमवान् नामाविद्यावस्थायुक्तः प्रतीयते। परमार्थतस्त्वसावक्रम एव स्फोटात्मा प्रतिभासः। उपाधिवशात्तत्र बुद्धिर्विततेवानुगम्यत इति बोद्वव्यम्।'

इस **हरिवृत्ति** में प्रयुक्त **'व्यक्त'** शब्द का अर्थ यदि **पाणिनि** के **'व्यक्तवाचां समुच्चारणे'**[43] सूत्र को ध्यान में रखकर किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि यहाँ से **वैखरी** की अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, क्योंकि **पतञ्जलि** ने व्यक्तवाक् का अर्थ किया है– **'येषां वाच्यकारादयो वर्ण व्यज्यन्ते (ते व्यक्तवाचः)।'**

अतः इससे पूर्व निर्दिष्ट उपांशु और परमोपांशु को **मध्यमा** से सम्बद्ध मानना उचित है। **वृषभदेव** ने **वाक्यपदीय** कारिका की वृत्ति की व्याख्या में उपांशुतर का उल्लेख किया है। इस विषय में एक सम्भावना तो यह है कि उपांशु, उपांशुतर और परमोपांशु, अर्थात् उपांशुतम ये तीन भेद हैं, क्योंकि तारतम्य का अन्ततो उपांशुतम मानने पर ही हो सकता है। तब इसी प्रकार व्यक्त आदि के तारतम्य का भी पर्यवसान व्यक्ततम आदि में मानकर वृत्ति को उपलक्षणपरक स्वीकार करना होगा। इसमें कोई आपत्ति भी नहीं है। किन्तु मुख्यतया विचारणीय यह है कि यदि उपांशु, उपांशुतर और परमोपांशु को मध्यमा की दशा माना जाये तब तो मध्यमा से भी ध्वनि का सम्बन्ध सिद्ध होगा। इतना अवश्य है कि यह ध्वनि स्वसंवेग होगी, पर संवेग नहीं। इस स्थिति में **मध्यमा** में भी अव्यक्त रूप में वर्णानुपूर्वीस्वरूप क्रम का अपलाप नहीं किया सकता है। साथ ही, जब परमार्थतः वैयाकरणों का **'एकोऽनवयःशब्दः'** सिद्वान्त है तो **पश्यन्ती** से अतिरिक्त **मध्यमा** को भी अनवयव, वर्णानुपूर्वीरहित– अक्रमा और नित्य कहना शब्दाद्वैतवाद के प्रतिकूल होगा। अतः **मध्यमा** को स्वरूपतः अक्रमा नहीं कहा जा सकता है किन्तु इसे उपादानीभूत **पश्यन्ती** के रूप में– तदभिन्न रूप में लिया जाये तो **मध्यमा** को भी अक्रमा कहा जाना उचित ही है। यह स्थिति भी अद्वैत वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद के समान है। इस पक्ष में समष्टिस्वरूप माया में बुद्ध के प्रतिबिम्ब को ईश्वर और व्यष्टिस्वरूप माया अथवा अविद्या को ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को जीव कहा गया है। इन दोनों को प्रतिविम्बत्वेन मिथ्या और बिम्बत्वेन सत्य कहा गया है।

अत एव **मध्यमा** को एकरूपतः सक्रमा और **पश्यन्ती** से अभिन्न होने के कारण ताद्रूप्य मानने पर अक्रमा कहा जा सकता है। साथ ही **वैखरी** को स्वपरसंवेग और मध्यमा को स्वसंवेका कहने से भी **मध्यमा** का सक्रमत्व मध्यमात्वेन स्वरूपेण सिद्ध है। अतः दृष्टिभेद से इसका सक्रमत्व और अक्रमत्व दोनों ही संगत हैं, इनमें परस्पर विरोध नहीं है। इसीलिए जो लोग मध्यमा को **स्फोट** कहते हैं उनके मत में **स्फोट** अनित्यहै, किन्तु **पश्यन्ती** को **स्फोट** मानने वाले आचार्यो के मतानुसार यह नित्य है। स्फोट के अनित्यत्व और उसके नित्यत्व की दोनों ही मान्यतायें वैयाकरण–सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। इस प्रङ्सग में **हरिवृत्ति** के एक वक्तव्य को उद्धृत करना पर्याप्त होगा–

---

43. वही, 1.34

'अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुकः प्रथमाभिनिर्वृत्तो यः शब्दः स स्फोट इत्युच्यते।.....नित्यपक्षे संयोगजविभागजध्वनिव्यङ्ग्यः स्फोटः।।'[44]

महाभाष्यदीपिका के इस कथन से भी यही प्रमाणित होता है–

'तत्र कार्यपक्षे स्फोट एव संयोगाद् विभागात् संयोगविभागाभ्यां वा निष्पद्यते।।'[45]

पश्यन्ती

वैयाकरणों के मत में **पश्यन्ती** शब्द का मौलिक और तात्त्विक स्वरूप है। इसका स्वरूपवर्णन निम्नलिखित रूप में **हरिवृत्ति** में किया गया है–

'प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा चलाऽचला प्रतिलब्धसमाधाना चावृता च विशुद्धा च, सन्निविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा चेत्यपरिमाणभेदा।'[46]

इसका अभिप्राय यह है कि यह प्रतिसंहृतक्रमा है, अर्थात् इसमें वर्णानुपूर्वी का योग नहीं होता है। इसीलिए इसे अक्रमा माना जाता है। **वृषभदेव** ने इसे स्पष्ट करते हुये कहा है–

'यदा हीदन्तया निरूपयति तदैकान्ततः क्रमाभावो वर्णानाम्।'[47]

हरिवृत्ति में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है–

'यत्र तु प्रतिसंहृतक्रमयोगया बुद्ध्या निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तम् अव्यक्ते शब्देऽध्यारोपितं हि शब्दानां क्रमरूपमिव साक्षात्क्रियते तत्प्रतिसंहृतक्रमम्।'[48]

इससे स्पष्ट है कि **पश्यन्ती** स्वरूपतः अक्रमा है, किन्तु इसमें क्रमशक्ति द्वारा सक्रमत्व आरोपित है। आरम्भ में **हरिवृत्ति** में जो आपाततः परस्पर विरुद्ध वर्णन किया गया है **'चलाऽचला'** इत्यादि उसका समाधान एक को स्वाभाविक और दूसरे को आरोपित मानकर करना चाहिये। **'प्रतिसंहृतक्रमा'** और **'समाविष्टक्रमशक्तिः'** इनमें तो कोई विरोध नहीं है, क्योंकि प्रथम विशेषण से क्रम का निषेध किया गया है जबकि द्वितीय विशेषण से क्रमशक्ति का समावेश कहा गया है। क्रम तो क्रमशक्तिजन्य है, स्वयम् क्रमशक्तिस्वरूप नहीं। अतः निष्क्रमत्व और क्रमशक्तिमत्त्व में परस्पर विरोध नहीं है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद तो व्याकरणशास्त्र में मान्य है ही। इसे **'चला'** भी कहा गया है और 'अचला' भी। मध्यमादिरूप में विवर्त्तित होने के कारण इसे **चला** कहा गया है, परन्तु विवर्त्तात्मक परिवर्त्तन के अतात्त्विक होने से यह स्वभावतः **अचला** है। इस व्याकरणशास्त्र में **पश्यन्ती** को ही शब्दब्रह्म कहा गया है। अतः तत्त्ववेत्ताओं– योगियों की दृष्टि में प्रत्ययकाल में अथवा शब्दब्रह्मस्वरूप **पश्यन्ती** का साक्षात्कार हो जाने पर इसके निखिल विवर्त्त का इसी में समाधान–समावेश–विलय हो जाता है। इसी कारण **पश्यन्ती** को– **'प्रतिलब्धं, साक्षात्कृतं तत्त्वविद्भिः सकलविवर्त्तस्य समाधानं विलयो यत्र सा प्रतिलब्धसमाधाना**

44. हरिवृत्ति, 1.102
45. महाभाष्यदीपिका, पृ. 76
46. हरिवृत्ति, 1.134 (142)
47. वृषभदेव, 1.134 (142)
48. हरिवृत्ति, 1.134 (142)

कहा गया है। व्यवहारकाल में सामान्यजन की दृष्टि में यह पश्यन्ती अपभ्रंश से आच्छन्न प्रतीत होती है, परन्तु वाग्योगवित् की तो यह सर्वदा विशुद्ध ही प्रतीत होती है–

'आवृता अपभ्रंशैर्वा समाकीर्णा तैरवष्टब्धेत्यावृता। विशुद्धा च वाग्योगविदाम्। ते हि तामक्रमां वाचं वेदयन्ते अपभ्रंशैर्वाचं विविक्ताम्। यथा वैयाकरणाः।'[49]

यह वर्णन **'सक्तुमिव तितऊना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत'** इत्यादि ऋग्वर्ण का स्मारक है। यह पश्यन्ती **'सन्निविष्टज्ञेयाकारा'** है, क्योंकि इसमें लौकिक दृष्टि से जिस अर्थ को शब्द का बोध्य कहा जाता है वह इस रूप में समाविष्ट है, जिससे उसका शब्द से न भेद रहता है और न भेद का ज्ञान ही हो पाता है। जब शब्द और अर्थ का भेद परमार्थतः है ही नहीं तब उसका बोध योगियों को भी कैसे हो सकता है। **नागेश भट्ट** ने **भाष्य प्रदीपोद्योत** में जो यह कहा है कि **'पश्यन्ती** में शब्द और अर्थ के भेद का साक्षात्कार योगिजन को होता है' वह शैवदार्शनिकों की **पश्यन्ती** के विषय में तो उचित है, क्योंकि उनकी **पश्यन्ती** वाक्तत्त्व का मूल रूप नहीं है। किन्तु वैयाकरणों की **पश्यन्ती** तो वाक्तत्त्व का पारमार्थिक रूप है। इसमें जब शब्दार्थ में भेद ही नहीं है अर्थात् 'जो शब्द है वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है' तो फिर किसी के लिए भी इस **पश्यन्ती** के शब्द और अर्थ के भेद ज्ञान की उक्ति कैसे संगत हो सकती है। इसी परस्पराभेद को– जो अर्थ है वही पश्यन्त्मात्मक शब्द है और जो यह शब्द है वही अर्थ है– इस पारमार्थिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ही **पश्यन्ती** को **'सन्निविष्टज्ञेयाकारा', 'प्रतिलीनाकार'** तथा अन्ततः **'निराकारा'** भी कहा गया है। शब्द से अर्थ का भेद नहीं है और अर्थ से शब्द का भेद नहीं है– इस कथन में प्रकारान्तर से भेदबुद्धि निहित है। इसी का निराकरण करते हुये **पश्यन्ती** को अन्त में **'निराकारा'** कहा गया है। इसी निराकारत्व के हेतु रूप में **'प्रतिलीनाकारा'** कहा गया है। इसमें ज्ञेय का आकार इस प्रकार विलीन–तादात्म्यापन्न रहता है कि उसका पृथग् भान होता ही नहीं है। इसे **'परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा'** इसलिए कहा गया है क्योंकि भेदबुद्धिविशिष्ट सामान्य जन को इससे परिच्छिन्न गवाश्वादि अर्थ का बोध होता है, इसकी अपरिच्छिन्नार्थता का अनुभव तो केवल तत्त्ववेत्ता को होता है। **'संसृष्टार्थप्रत्ययाभासा'** का अभिप्राय यदि निषेधात्मक माना जाये तो अधिक उपयुक्त होगा– इसमें शब्द से भिन्न रूप में अर्थ का और अर्थ से भिन्न रूप में शब्द का मान– असंसृष्टार्थप्रत्यवभास परमार्थतः नहीं होता है। अत एव अन्त में इसे **'प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा'** कहा गया है। सारांश यही है कि **पश्यन्ती** परमार्थतः अक्रमा, अभिन्नरूपा, शब्दार्थभेद से सर्वथा असम्पृक्त है, किन्तु व्यवहारदृष्टि से अपनी शक्ति के कारण आपाततः सक्रमा आदि रूपों में प्रतीत होती है। दृष्टिभेद से इसके पारमार्थिक स्वरूप में तात्त्विक अन्तर नहीं आता है। अत एव **हरिवृत्ति** में उद्धृत पद्यों में इसका वर्णन निम्नलिखित रूप में किया गया है–

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।।
सेयमाकीर्यमाणाऽपि नित्यमागन्तुकैर्मलैः।
अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते।
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्त्तते।।[50] **इत्यादि**

---

49. वृषभदेव, **1.134 (142)**

50. हरिवृत्ति, **1.134 (142)**

इसमें **'अन्त्या कलेव सोमस्य–'** का स्पष्टीकरण वृषभदेव ने इस प्रकार दिया है–

'चन्द्रस्य हि चतुर्दश कलाः सूर्येण प्रतिपद आरम्याभिभूयन्ते। या त्वस्य पञ्चदशी कला साऽमावस्यायां सूर्येणैकीभावान्नाभिभूयते। भेदे त्वभिभवितुरभिभाव्यस्य चैतद् भवति। एवं सा वागपभ्रंशैर्नाभिभूयते (न) मलिनीक्रियते।'[51]

अन्तिम अंश– **'अधिकारो निवर्त्तते'** के अन्तर्गत **'अधिकार'** शब्द का अर्थ बन्ध है। अतः अधिकार–निवृत्ति–बन्ध–निवृत्ति **पश्यन्ती** के स्वरूप के साक्षात्कार से हो जाती है। वैयाकरणों की दृष्टि में यही **पश्यन्ती** संविद्रूप स्वप्रकाश शब्दब्रह्म है। अत एव इसके तत्त्व साक्षात्कार से बन्ध–निवृत्ति उचित है।

वाक् के तीन ही भेद वैयाकरणों को मान्य है जबकि शैवदर्शन में पश्यन्ती से भी उत्कृष्ट एक भेद–**'परा'** स्वीकृत है, किन्तु **'त्रय्या वाचः परं पदम्'** कहने वाले **भर्त्तृहरि** आदि वैयाकरणों की **पश्यन्ती** शैवदार्शनिकों की **'परा वाक्'** के समकक्ष है। यह तथ्य व्याकरणशास्त्र के प्राचीन आकरग्रन्थों में उपलब्ध पश्यन्ती के वर्णन और शैवागम में उपलब्ध **'परा'** के वर्णन से सुस्पष्ट है। इसीलिए विभिन्न शास्त्रकारों ने, यहाँ तक कि शैवागम के आचार्यों ने भी वैयाकरणों की **'त्रयीवाक्'** की मान्यता का ही अपने–अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है। अत एव न्यायदर्शन के प्रतिष्ठित आचार्य **जयन्त भट्ट** ने भी **न्यायमञ्जरी** में कहा है–

'सा चेयं वाक् त्रैविध्येन व्यवस्थिता एवावभासते वैखरी मध्यमा पश्यन्तीति।'[52]

इन तीनों की संक्षिप्त व्याख्या भी **हरिवृत्ति** में उद्धृत पद्यों का निर्देश करते हुये **जयन्त भट्ट** ने की है, किन्तु चतुर्थ **'परा वाक्'** की कोई चर्चा नहीं की है।

स्याद्वादरत्नाकर में जैनाचार्य **वादिदेव सूरि** ने भी व्याकरणशास्त्रानुसार **'त्रयी वाक्'** का ही निर्देश किया है, **चतुष्टयी वाक्** का नहीं–

'सा चेयं वाक् त्रैविध्येन व्यवस्थिता वैखरी मध्यमा पश्यन्तीति।'[53]

इन्होंने **वाक्यपदीय** की **हरिवृत्ति** के आधार पर इन तीनों की कुछ विस्तृत व्याख्या भी की है।

'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' में **प्रभाचन्द्राचार्य** ने भी खण्डनार्थ वैयाकरणों के त्रयी वाक् की परम्परा का ही उल्लेख किया है।[54]

शैवाचार्य **सोमानन्द** ने **शिवदृष्टि** के द्वितीय आह्निक में वैयाकरणों के मत को खण्डनार्थ उद्धृत किया है। प्रारम्भ की दो कारिकायें ही वैयाकरणों के **'त्रयी वाक्'** सिद्धान्त को सुस्पष्ट कर देती हैं–

---

51. वृषभदेव, 1.134 (142)
52. न्यायमञ्जरी, पृ. 343
53. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. 88-90 (पूना)
54. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ. 39

अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः।।
इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाऽक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्।।[55]

द्वितीय कारिका के चतुर्थ पाद का तात्पर्य **उत्पलदेव** के शब्दों में यही है कि वैयाकरणों के मत में **पश्यन्ती** ही वाक्तत्त्व का परमस्वरूप है, इससे उत्कृष्टतर **परावाक्** नाम की कोई अन्य वाक् नहीं है–

'सैव च पश्यन्तीसंज्ञा परावाक्।'

अभिनवगुप्त ने भी अपनी **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी** में वैयाकरणों के अनुसार त्रयी वाक् का ही निर्देश किया है और वैयाकरणों से सुहृद्भाव से आग्रह किया है कि उन्हें भी शैवाचार्यों के समान **'परा'** नामक चतुर्थ वागवस्था स्वीकार्य होनी चाहिये।[56]

स्पन्दकारिका की स्वोपज्ञवृत्ति में आचार्य **रामकण्ठ** ने भी वैयाकरणमतानुसार त्रयी वाक् का ही संक्षिप्त व्याख्यानपूर्वक उल्लेख किया है।

श्लोकवार्त्तिक पर **'काशिका'** टीका के रचयिता **सुचरित मिश्र** ने–**'त्रेधा हि वाचं विभजन्ते वैखरी मध्यमा सूक्ष्मा चेति'**[57] कहकर यही प्रमाणित किया है। इस वक्तव्य में सूक्ष्मा का अर्थ पश्यन्ती है, क्योंकि वैयाकरणों ने इसे ही **'सूक्ष्मा वाक्'** कहा है– **'सूक्ष्मा वागनपायिनी।'**

भोजराज ने अपने **'श्रृङ्गारप्रकाश'** में सूक्ष्मा को **पश्यन्ती** से भिन्न चतुर्थ अवस्था के रूप में निर्दिष्ट किया है, जो व्याकरणसम्प्रदाय से सर्वथा विरुद्ध है। वैयाकरण तथा इनके प्रकृतविषयक विचार को प्रस्तुत करते हुये शास्त्रान्तर के भी प्रतिष्ठित आचार्यों ने सूक्ष्मा वाक् को **पश्यन्ती** का स्वरूपवर्णनपरक पर्याय माना है। **श्रृङ्गारप्रकाश** को इन्हीं सब कारणों से हम 'भानुमती का पिटारा' मानते रहे हैं। इसमें संगत–असंगत सभी विषयों का सम्मेलन उपलब्ध है। अतः इसके वक्तव्य–

'किं पुनरनाहताख्यं शब्दब्रह्म ? उच्यते। शब्दब्रह्मणः चतस्रोऽवस्थाः वैखरी मध्यमा पश्यन्ती सूक्ष्मा चेति। तत्र येयं स्थानकरणप्रयत्नक्रमव्यज्यमानगकारादिवर्णसमुदायात्मिका वाक् सा वैखरी। तत्र विशिष्टं खं सुखमिति दुःखमिति वा राति प्रयच्छति इति विखरो देहेन्द्रियसंघातः, तत्र भवा वैखरी।..........या पुनरन्तःसंजल्परूपा क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णाभिव्यक्ति–रूपा सा मध्यमा। या तु वर्णविभागाभावादक्रमा स्वयंप्रकाशा च सा पश्यन्ती। या पुनः अनाद्यविद्यावासनोपप्लवमान– शब्दार्थभेदरहितावबोधरूपब्रह्मशब्दवाच्या स्वरूपज्योतिरात्मनो–ऽन्तरनपाया प्रकाशते सा सूक्ष्मा।'[58]

---

55. शिवदृष्टि, 2.1-2
56. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भाग–2, पृ. 191-195
57. काशिका (श्लोकवार्त्तिक), पृ. 248
58. श्रृङ्गारप्रकाश, भाग–3, पृ. 366

इस वर्णन में **मध्यमा** के स्वरूप के अन्तर्गत **'श्रोत्रग्राह्यवर्णाभिव्यक्तिरूपा'** के स्थान पर **'श्रोत्रग्राह्यवर्णाभिव्यक्तिरहिता'** यह शुद्ध पाठ होना चाहिये, क्योंकि यही वैयाकरणसम्मत है। अथवा यथामुद्रित पाठ **भोजराज** की स्वतन्त्र कल्पना की अभिव्यक्ति हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि **भोजराज** ने शैवाचार्यों की **'परा'** को ही ध्यान में रखकर **'सूक्ष्मा'** को एक स्वतन्त्र वागवस्था के रूप में प्रस्तुत किया हो। परन्तु शैवों की **'परावाक्'** की अभिव्यक्ति **'सूक्ष्मा'** शब्द से करना वैयाकरणों के लिए तो अनुकूल नहीं है, क्योंकि वैयाकरण तो **पश्यन्ती** को ही **'सूक्ष्मा'** भी कहते और **'परा'** भी। **हेलाराज** का यह कथन स्मरणीय है–

'संविच्च पश्यन्तीरूपा परा वाक् ब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते।'[59]

इस प्रकार इतना सुस्पष्ट है कि वैयाकरण–सिद्धान्त के अनुसार वाक्तत्त्व का त्रैविध्य ही है, चातुर्विध्य कथमपि नहीं है। यह उचित है अथवा शैवसिद्धान्त की चातुर्विध्य–व्यवस्था– यह तो पृथग् विचारणीय विषय है, किन्तु है तो प्रसिद्ध त्रयी वाक् ही व्याकरण–सम्प्रदाय में। ऐसी दशा में **पस्पशाह्निक** के **उद्योत** में **नागेश भट्ट** ने **'चत्वारि वाक्यपरिमिता पदानि'** आदि की व्याख्या करते समय जो **वैखरी, मध्यमा** दिखलायी है वह व्याकरण–सम्प्रदाय के साथ अन्याय है। इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि **निरूक्तपरिशिष्ट** में जो भी **'चत्वारि'** पद के वैकल्पिक व्याख्यान किये गये हैं उनमें **वैखरी** आदि का अस्पष्ट संकेत भी नहीं है। अतः उक्त **'चत्वारि'** पद भी पक्षान्तरानुसार वैखरी आदि चार अवस्थाओं को लेकर संगतिप्रदर्शन सर्वथा सम्प्रदायविरूद्ध है, अग्राह्म है। **'सूक्ष्मा वागनपायिनी'** के स्थान पर **'परा वागनपायिनी'** यह पाठान्तर करना तो और भी आश्चर्यजनक है, क्योंकि सर्वत्र 'सूक्ष्म वागनपायिनी' पाठ ही उपलब्ध होता है।[60]

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।



---

59. हेलाराज, 3.11 (द्रव्यसमुद्देश)

60. म. प्र. उद्योत (पस्पशाह्निक), पृ. 40-41 (निर्णयसागर)

वाक् का मूल स्वरूप

वाक् मानव जीवन के सम्यक् निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक साधन है, क्योंकि इसके बिना हम अपने मनोभावों को अन्य व्यक्तियों में संक्रान्त करने में अधिक समर्थ नहीं हैं। यदि किसी पदार्थ को हम जानते हों तो उसे अन्यत्रावस्थित व्यक्ति को वाक् शब्द के अभाव में समझाना प्रायः असम्भव है। ऐसी दशा में जिस व्यक्ति को वाक् के अभाव में हम उस स्वानुभूत विषय की स्पष्ट रूप में सूचना दे नहीं पाते हैं उस व्यक्ति के लिए वह विषय वस्तुतः वर्त्तमान होने पर भी अवर्त्तमान ही है। अत एव **वाक्यपदीयकार** ने कहा है–

अतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते।।[1]

शब्द का माहात्म्य इतना अधिक है कि वर्तमान वस्तु भी शब्दव्यवहार के बिना अवर्त्तमानवत् हो जाती है और अवर्त्तमान भी वर्त्तमानवत् प्रतीत होती है। इसी लिए **हरिवृत्ति** में कहा गया है–

'सदपि वाग्व्यवहारेणानुपगृहीतमर्थरूपमसता तुल्यम्। अत्यन्तासच्च प्रसिद्धं लोके शशविषाणादि प्राप्providedाविर्भावतिरोभावं च गन्धर्वनगरादिवाचा समुत्थाप्यमानं मुख्यसत्तामुक्तमिव प्रत्यवभासते।[2]

'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि।' यह तो विद्वानों में सुप्रसिद्ध ही है। योगशास्त्र में वर्णित विकल्पात्मक चित्तवृत्ति– **'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'**[3] असन्दर्भ की ही शब्द से उपस्थिति का प्रतिपादन करती है। वाक् को तो वैयाकरणों ने इतना महत्त्व दिया है कि इसे ही वे ब्रह्म भी कहते और लौकिक ज्ञानमात्र को वागनुविद्ध–शब्दानुविद्ध मानते हैं–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।[4]

---

1. वाक्यपदीय, 1.113
2. हरिवृत्ति, 1.113
3. योगसूत्र, 1
4. वाक्यपदीय, 1.115-116

इतना ही नहीं, शब्द हमारे लौकिक ज्ञान को भी व्यापक बनाने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। हम अल्पज्ञ जीव प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अत्यल्प विषयों का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इनसे अधिकतर विषयों का ज्ञान तो अनुमान और शब्द प्रमाणों द्वारा ही सम्भव होता है। **न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर** ने इसीलिए कहा है–

'उभयं महाविषयः अनुमानं शब्दश्च।'

अनुमान और शब्द प्रमाण में तुलना करने पर यह सुस्पष्ट है कि हमारे लिए शब्दप्रमाण का क्षेत्र जितना व्यापक है उतना अनुमान प्रमाण का नहीं है। इसका कारण यह है कि अनुमान प्रमाण का उपयोग तभी दिया जा सकता है जब हेतु और साध्य के व्याप्ति सम्बन्ध का, हेतु की पक्षधर्मता आदि का यथार्थज्ञान हो। इन सब की आवश्यकता शब्द प्रमाण के लिए नहीं है। अतः शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से भी व्यापक ज्ञान का साधन है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक भी अत्यावश्यक है, तभी कर्त्तव्यपथ पर चलकर और अकर्त्तव्य पथ से विमुख होकर जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है। यह कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक–धर्माधर्मविवेक शास्त्रमात्र के अध्ययन–मनन से ही सम्भव है–

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।।

इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं। शास्त्र शब्दराशिविशेष का ही तो नामान्तर है।

साथ ही, जो लोग आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले हैं उनकी जिज्ञासा का शमन भी शब्दराशिस्वरूपशास्त्र से ही हो सकता है, किसी अन्य साधन से नहीं। शास्त्रयोनित्वाधिकरण में इसका विशद विवेचन **आचार्य शङ्कर** ने किया है। सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने–

'तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्'[5] कहकर इसी को प्रमाणित किया है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि वाक्–शब्द हमारे लौकिक और अलौकिक लक्ष्य की पूर्त्ति का कितना उत्कृष्ट साधन है। यद्यपि चेष्टा–अभिनय– से भी कुछ लौकिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति की जा सकती है, तथापि शब्द से जितनी पूर्त्ति सम्भव है उतनी चेष्टा आदि से नहीं। मुख–विकास से अपने हर्ष की अभिव्यक्ति तो की जा सकती है, किन्तु इसके कारण आदि की अभिव्यक्ति कर पाना असम्भव है।

इसी से यास्क ने कहा है–

'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।'[6]

यहाँ **अणीयस्त्व** का अर्थ है सरलता। इस वाक्य की **दुर्गाचार्यकृत** वृत्ति का निम्ननिर्दिष्ट अंश भी अवलोकनीय है–

---

5. सांख्यकारिका, 6
6. निरुक्त, 1.2.5

'ननु अभिनया अपि व्याप्तिमन्तः पाणिविहाराक्षिनिकोचादयः, तैरेव कार्यसिद्धिरस्त्विति।......सत्यम्, अभिनया अपि व्याप्तिमन्तः न त्वणीयांसः। ते महता यत्नेन व्याप्नुवन्ति, न च निस्सन्दिग्धं कुर्वन्ति, तत्प्रतीतार्थसम्बन्धस्यैव, नेतरस्य। शब्दस्त्वपरिमितमर्थमल्पीयसा यत्नेन उच्चारितो व्याप्नोति। तस्मादणीयस्त्वादिति विशेषहेतूपपत्त्या शब्देनैव संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके इत्युपपन्नम्।'

दुर्गाचार्य की उपर्युक्त वृत्ति में अभिनय के विषय में कहा गया है कि–

'तत् प्रतीतार्थसम्बन्धस्यैव, नेतरस्य।'

इसका अर्थ यही है कि अभिनय–शारीरिक चेष्टा– उसी व्यक्ति के लिए अभिप्रेत अर्थ का प्रतिपादन करता है जिस व्यक्ति को उस अभिनयविशेष का अर्थविशेष के साथ सम्बन्ध का ज्ञान पूर्वकाल में हो चुका हो। यह तो शब्द से अर्थबोध के लिए भी समानरूप से अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में अभिनय से शब्द में यह व्यतिरेक कैसे उत्पन्न है। इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि जितनी सुगमता से शब्दार्थसम्बन्ध का ज्ञान होता है उतनी सुगमता से अभिनयार्थ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। परिवार तथा समाज में होने वाले शाब्दव्यवहार से अपनी मातृभाषा के शब्दों के अर्थों के साथ सम्बन्ध का बोध अनायास जिस प्रकार हो जाता है उस प्रकार अभिनय के अर्थ के सम्बन्ध का अनायास बोध प्रायः नहीं हो पाता है। इसीलिए हम प्रौढ़ व्यक्ति भी अनेक अभिनयों के अभिप्रेत अर्थों का बोध सुगमता से नहीं कर पाते हैं।

इसी प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि **भर्त्तृहरि** ने जिस इतिकर्त्तव्यता को शब्दाश्रित कहा है क्या उसको पूर्णरूपेण शब्दाश्रित माना जा सकता है, अथवा नहीं। ज्ञानमात्र को शब्दानुविद्ध कहने वाले वैयाकरण तो यही कहेंगे कि सभी इतिकर्त्तव्यतायें शब्दाश्रित हैं, शब्दबोध्य हैं। दूसरे शब्दों में, वैयाकरण यही मानेंगे कि सभी पदार्थों का प्रतिपादन शब्दों से सम्भव है। यह हो सकता है कि कोई व्यक्तिविशेष ऐसा न कर सके, किन्तु योगशक्तिसम्पन्न महापुरूष तो सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता से सम्पन्न होने के कारण सबका प्रतिपादन शब्दों में कर ही सकते हैं। न्याय–वैशेषिक के आचार्य भी ऐसा ही मानते हैं, क्योंकि उनके मत में अभिधेयत्व सातों पदार्थों का साधर्म्य–समानधर्म है। इसके विपरीत अद्वैतवेदान्ती अपने ब्रह्म को अशब्द–वागगोचर कहकर इस मत का विरोध करते हैं। **'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**, **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** और–

'यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यादि श्रुतिवाक्य उनके पक्ष के समर्थक हैं। माध्यमिक भी स्वाभिमत **'तत्त्व'** को वागगोचर मानते हैं। इनका तर्क है कि जो असीम है वह वाग्गोचर कथमपि नहीं हो सकता है। तथापि इनके मतानुसार इतना तो स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्त के मत में ब्रह्मव्यतिरिक्त और माध्यमिक के अनुसार तत्त्वव्यतिरिक्त सभी पदार्थ शब्दगोचर हो सकते हैं। इससे शब्द का विषय कितना विशाल है– यह तो सुस्पष्ट है ही। ऐसी दशा में–

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरे महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्याऽपि शक्यते।।

यह कथन अर्थवाद है। यदि इसे अर्थवाद न भी मानें तब भी शब्द के क्षेत्र में जो विशालता है उसमें कोई बहुत अन्तर नहीं पड़ता है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि शब्द से सभी इतिकर्त्तव्यताओं–सभी पदार्थों–का बोध न भी हो सके तो भी यह पदार्थ प्रतिपादन का अधिकतम विस्तृत और सरलतम साधन तो है ही।

इस विषय पर विचार किया जायेगा कि शास्त्रकारों को इस वाक् का–शब्द का–मौलिक रूप वाक्यात्मक मान्य है अथवा पदात्मक।

इस प्रसंग में सर्वप्रथम **निरूक्तकार यास्क** के वक्तव्य पर विचार किया जायेगा। उन्होंने कहा है–

'पदप्रकृतिः संहिता।[7]

यही वक्तव्य **ऋक्प्रातिशाख्य**[8] में भी अविकल रूप में उपलब्ध है। **'पदप्रकृतिः'** पद में दो प्रकार के समास सम्भव हैं– (क) **'पदानां प्रकृतिः'** और (ख) **'पदानि प्रकृतिर्यस्याः।'** षष्ठीतत्पुरूष समास मान्य होने पर वाक्यात्मक संहिता को शब्द का मूलरूप होना चाहिये जबकि बहुव्रीहि समास के अभीष्ट होने पर पद की मौलिकता सिद्ध होती है। निरूक्तभाष्यकार **दुर्गाचार्य** ने प्रथम समास को सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार कर संहिता को ही शब्द का मूल रूप माना है–

'किं पुनरत्र ज्यायः पदानां प्रकृतित्वं संहिताया विकारत्वम्, उत वा विकारत्वं पदानां प्रकृतित्वं संहिताया इति? उच्यते–संहितायाः प्रकृतित्वं ज्यायः। किं कारणम्? मन्त्रो ह्यभिव्यज्यमानः पूर्वमृषेर्मन्त्रदृशः संहितयैवभिव्यज्यते, न पदैः। अतश्च संहितामेव पूर्वमध्यापयन्त्यनूचाना ब्राह्मणाः, अधीयते चाध्येतारः।-----तस्मात् संहितैव प्रकृतिरित्येतदेव साधीय इति।'[9]

इस प्रकार संहिता–वाक्य की मौलिकता सिद्ध की गयी है। **ऋक्प्रातिशाख्य** के भाष्यकार **उव्वट** ने भी संहिता की ही मौलिकता का समर्थन किया है।[10] यह विषय **तैत्तिरीयसंहिता** के निम्नोद्धृत कथन से भी प्रमाणित होता है–

'वागू वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्–इमां नो वाचं व्याकुर्विति।....... तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।'[11]

इस संहिता–वचन से भी यही सिद्ध होता है कि मूलस्वरूप वाक्यात्मक था, परन्तु वाक्तत्त्व की प्रेरणा से जब देवताओं ने अव्याकृता अर्थात् अखण्ड वाक् को सौविध्य के लिए व्याकृत–कल्पित पदात्मक खण्डों में विभाजित करने की प्रार्थना की तो इन्द्र ने इदम्प्रथमतया इस अखण्ड वाक् का विभाजन किया। वैदिक–सम्प्रदाय भी वेद को मूलतः संहितात्मक ही मानते

7. निरूक्त, 1.17.4
8. ऋक्प्रातिशाख्य, 2.1
9. दुर्गाचार्यभाष्य–निरूक्त, 1.17.4
10. ऋ. प्रा. उ. भा., 2.1
11. तैत्तिरीयसंहिता, 6.4.7

हैं। इसके पदपाठ तो बाद में शाकल्य, गार्ग्य और आत्रेय द्वारा क्रमशः ऋक्, सामन् और यजुष् के किये गये हैं

परवर्त्ती शास्त्रकारों में वैयाकरणों ने भी वाक् को मूलतः वाक्यात्मक कहा है। इसीलिए तो उन्होंने वाक्यस्फोट को ही मूलतः वाक् कहा है। यह विषय वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में विशेषतः विवेचित है। वैयाकरणों ने शब्दब्रह्मवाद को स्थापित किया है, अतः ब्रह्मकाण्ड में भी शब्दब्रह्म का जो वर्णन है उसमें भी वाक्य को वाक् का मौलिक रूप ही कहा गया है–

1. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।।[12]

3. शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।
विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते।।[13]

2. यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते।।[14] इत्यादि

वाक्यपदीय के व्याख्याकार पुण्यराज ने भी कहा है–

'अबुधबोधनाय पदविभागो द्रष्टव्यः।[15]

यास्क आदि में जो 'पदप्रकृतिः संहिता' यह वचन उपलब्ध है भर्त्तृहरि ने भी उसे स्पष्टतः निर्दिष्ट किया है। साथ ही इस वचन की मतभेदानुसारिणी दो व्याख्यायें भी की गयी हैं–

पदप्रकृतिभावश्च वृत्तिभेदेन वर्ण्यते।
पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया।।[16]

इसकी पुण्यराजकृत व्याख्या भी द्रष्टव्य है। यहाँ हरिवृत्ति में कई मतमतान्तर निर्दिष्ट हैं। अतः वह भी द्रष्टव्य है–

'तत्पुरूषवृत्त्या शब्दसंस्कारमाचक्षाणा विवक्षितमर्थं प्रतिपादयन्ति।.......बहुव्रीहिरीत्या शब्दसंस्कारमाचक्षाणाः तथैव विवक्षितमर्थं प्रतिपादयन्ति। तत्र केषाञ्चित् पौरूषेयाण्याम्नायपदानि----केषाञ्चित्तु पदरूप एवाम्नायः, संहिता पौरूषेयी। केषाञ्चित्तु नित्यावुभावप्येतौ समाम्नायौ। केषाञ्चिन्नित्यस्यैकस्याम्नायस्य द्वे एते विभागाविभागशक्ती प्रतिपादक–प्रतिपत्तव्यरूपेण वर्त्तेते।'

इस प्रकार वाक्यपदीयकार के अनुसार शब्द के मूलतः वाक्यात्मक होने की मान्यता

---

12. वाक्यपदीय, 1.73
13. तत्रैव, 2.10-13
14. तत्रैव, 2.10 (वृत्तौ पुण्यराजकृतायाम्)
15. तत्रैव
16. तत्रैव, 2.58

सुस्पष्ट हे। प्रसिद्धि यही है कि **वाक्यपदीय महाभाष्याश्रित** है। अत एव यह भी द्रष्टव्य है कि **महाभाष्य** में यह विषय कहाँ और कैसे सङ्केतित हैं।

'एतिस्तुशास्वदृजुषः क्यप्'[17] सूत्र के **'आज्यम्'** पद की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में **पतञ्जलि** ने **महाभाष्य** में लिखा है–

आङ्पूर्वस्यैष प्रयोगो भविष्यति। यद्येवमवग्रहः प्राप्नोति ? न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्तितव्यम्। यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्।'

इसी विषय को **वाक्यपदीय** की निम्नलिखित कारिका में भी प्रतिपादित किया गया है–

यदाम्नायश्च यद्यन्यः संहिताया निदर्शकः।
नित्यस्तत्र कथं कार्यं पदं लक्षणदर्शनात्।।[18]

तात्पर्य यह है कि यदि पद नित्य और वाक् का मौलिक रूप होता तो लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरण **पाणिनि** उसी को ध्यान में रखकर सूत्ररचना करते। वैसी स्थिति में **महाभाष्यकार** यह कैसे कहते कि पदकार लक्षण–व्याकरण का सूत्र देखकर पद का स्वरूप निर्धारण करें, प्रत्युत वैयाकरण को ही पद के अनुसार लक्षण–सूत्र का प्रणयन करने का उपदेश देते। इससे स्पष्ट है कि **महाभाष्यकार** ने भी अखण्ड वाक्य को ही वाक् का मूलरूप माना है, पद को नहीं। अत एव **कैयट** ने उक्त भाष्यसन्दर्भ की व्याख्या करते समय लिखा है कि–

'संहिताया एव नित्यत्वम्, पदविच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम्। तथा च यत्र अर्थनिश्चया–भावस्तत्रावग्रहो न क्रियते। तदुक्तम्– हरिद्भूरनवगृह्यते' इति। हरिद्भूरित्यत्र किं हरिशब्द इकारान्तः अथ हरिच्छब्दस्तकारान्त इति सन्देहात्।'[19]

'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्त्याः' इत्यादि वक्तव्य को **महाभाष्यकार** ने **'आशितः कर्त्ता'**[20] और **'अनो नुट्'**[21] सूत्रों की व्याख्या में भी पुनः–पुनः लिखा है, जिससे यही स्पष्ट है कि **महाभाष्यकार** का इस मान्यता पर आग्रह है। अत एव **कैयट** ने भी पुनः कहा है–

'संहितैव अपौरुषेयी, पदानि तु पौरुषेयाणि।'[22]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि वैयाकरणों के अनुसार वाक् का मूलस्वरूप संहितात्मक है–वाक्यत्मक है, पदात्मकता तो अन्वय–व्यतिरेक के आधार पर कल्पित है। इतना अवश्य है कि ये वैयाकरण वाक्य को स्फोटात्मक मानते हैं, वैखर्यात्मक नहीं।

वैखरी तो उस **स्फोट** का व्यञ्जक मात्र है और अनित्य भी। वाक् के मूलतः संहितात्मक होने पर व्यवहार में यदि कदाचित् एक पद मात्र प्रयुक्त है तो वहाँ भी किसी क्रिया

---

17. पा. सू., 3.1.109
18. वाक्यपदीय, 2.59
19. महाभाष्यप्रदीप, 3.1.109
20. पा. सू., 6.1.207
21. तदेव, 8.2.6
22. महाभाष्यप्रदीप, 6.1.107

पद की आवश्यकतानुसार अनुवृत्ति, अपकर्ष अथवा अध्याहार कर उसे वाक्यात्मक बनाना ही चाहिए। यदि कोई क्रियाविशेष उपयुक्त न हो तो कम से कम 'अस्ति' क्रिया को उपस्थित मान लेना चाहिए। अत एव **महाभाष्य** में **'अनभिहिते'**[23] सूत्र की व्याख्या के अन्तर्गत कहा गया है–

'अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरूषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते। वृक्षः, प्लक्षः–अस्तीति गम्यते।'

हरिवृत्ति में इसी को स्पष्टता के साथ कहा गया है–

'यावच्चापवादभूताः क्रियाविशेषाः शब्दप्रवृत्तिकारणमस्तित्वं न निर्वर्त्तयन्ति तावदस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरूषोऽप्रयुज्यमानोऽपि वृक्षादिभिः पदैराक्षिप्तः प्रतीयते। तानि चैकपदसरूपाण्याक्षिप्तक्रियापदानि वाक्यानीति व्याख्यायन्ते।'[24]

'प्रतिपदिकार्थ' सूत्र पर विचार करते हुये **लघुशब्देन्दुशेखर** में नागेश भट्ट ने भी कहा है–

इदमपि सूत्रं क्रियायोग एव प्रवर्त्तते, अन्ततोऽस्तिक्रियायाः सर्वत्र सत्त्वात्।'[25]

आपाततः कुछ विस्मय अवश्य होता है जब **पातञ्जलयोगसूत्र** के भाष्यकार ऐसा ही कहते हुये दिखाई पड़ते हैं। उनका यह वक्तव्य है–

'सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः, वृक्ष इत्युक्ते ऽस्तीति गम्यते। न च सत्तां पदार्थो व्यभिचरति, न ह्यसाधना क्रियास्तीति। तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपः।'[26]

यह क्रियाकारक विभाग व्यावहारिक है और इस रूप में यह **वैखर्यात्मक** शब्द का और पूर्वोक्त मध्यमात्मक शब्द का ही सम्भव है– यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

पूर्वमीमांसक भी क्रियापद को वाक्य का अनिवार्य अङ्ग मानते हैं। उनका **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'**[27] सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है। इसीलिए अर्थवादवाक्यों की विधि वाक्यों के साथ पदैकवाक्यता स्थापित की गयी है–

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्त्युत्यर्थत्वेन विधीनां स्युः।'[28]

'वाक्यशास्त्र' के रूप में पूर्वमीमांसादर्शन की प्रसिद्धि से भी यही स्पष्ट होता है कि नित्य शब्द के रूप में वर्ण को मानकर भी आनुपूर्वीविशेषविशिष्ट पदसमूहात्मक वाक्य को ये मीमांसक महत्त्व देते ही हैं। अत एव उन्हें पदार्थों का पर्यवसान वाक्यार्थ में ही मान्य है। **शावरभाष्य** में स्पष्ट कहा गया है–

---

23. पा. सू., 2.3.1
24. हरिवृत्ति, 1.24
25. लघुशब्देन्दुशेखर, पा. सू. 2.3.46
26. योगसूत्रव्यासभाष्य, 3.17
27. पूर्वमीमांसासूत्र
28. तत्रैव

'पदानि हि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानीं पदार्था अपगताः सन्तो वाक्यार्थमवगमयन्ति।,[29]

इस विषय में **अभिहितान्वयवाद** उचित है अथवा **अन्विताविधानवाद** यह अतिरिक्त विषय है।

नैयायिक वैयाकरणों और पूर्वमीमांसकों के विपरीत क्रिया की अनिवार्यता सभी वाक्यों में नहीं मानते हैं। इनके मत में वाक्य तीन प्रकार के होते हैं–

(क) **सुबन्तसमूहात्मक,** यथा 'त्रयः कालाः' आदि

(ख) **तिङन्तसमूहात्मक,** यथा– 'पचति भवति' आदि और

(ग) **सुप्तिङन्तसमूहात्मक,** यथा– 'चैत्रः पचति' इत्यादि।[30]

इसीलिए वात्स्यायन ने **'पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ'**[31] यह वाक्य लक्षण किया है। यह पदसमूह क्रियारहित भी हो ही सकता है। इसीलिए **शब्दशक्तिप्रकाशिका** में **जगदीश तर्कालङ्कार** ने कहा है–

क्रियारहितं वाक्यं नास्तीति प्रवादो निर्युक्तिकत्वादश्रद्धेयः।'[32]

किन्तु निराकांक्ष अर्थप्रतिपत्ति– शाब्दबोध वाक्य से ही नैयायिकों को भी मान्य है। अत एव **शब्दशक्तिप्रकाशिकाकार** का स्पष्ट कथन है–

वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः।
सम्पद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः।।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चाहे शब्द नित्य हो अथवा अनित्य, स्फोटवाद मान्य हो या नहीं, शब्द का जो स्वरूप व्यवहारोपयोगी है वह वाक्यात्म है, पदात्मक नहीं। अत एव यह भी सिद्ध है कि नित्यत्वानित्यत्व का विवाद होने पर भी मूल स्वरूप वाक्यात्मक ही होना चाहिए, क्योंकि शब्द का जो प्रयोजन है उसकी पूर्ति वाक्य से ही सम्भव है, पद से नहीं। एक विषय पर ध्यान देना आवश्यक है। शब्द से होने वाले बोध को शाब्दबोध कहा जाता है। शाब्दबोध का एकमात्र प्रामाणिक अर्थ है वाक्यार्थबोध। पदार्थबोध को शास्त्रकार और प्रबुद्धजन कभी शाब्दबोध नहीं कहते हैं। ऐसी स्थिति में यह सुस्पष्ट है कि शाब्दबोध के अन्तर्गत जो 'शाब्द' हैं वह वाक्यात्मक हैं, पदात्मक नहीं। अतः वाक् का मौलिक रूप वाक्यात्मक है, पदात्मक नहीं।

वाक्य का स्वरूप क्या है– इस विषय में विभिन्न मतों का विवेचन **वाक्यपदीय** के द्वितीय काण्ड में विशद रूप में किया गया है। द्वितीय काण्ड के प्रारम्भ के दो पद्यों में आठ मतों का सङ्कलन किया गया है–

---

29. शावरभाष्य, 1.1.25

30. न्यायकोश, पृ. – 131 ('वाक्य' शब्द के अन्तर्गत)

31. न्यायभाष्य, 1.2.56

32. शब्दशक्तिप्रकाशिका, कारिका सं. – 12

आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्त्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः।।
पदमाद्यं पृथक् सर्वं पदं साकाङ्क्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्।।[33]

प्रकरणपञ्चिका के अन्तर्गत **'वाक्यार्थमातृका'** की वृत्ति में पाँच मतों का उल्लेख मिलता है–

वाक्यमेकं न निर्भागं वाक्यान्त्यो वर्ण एव वा।
पदवृन्दं स्मृतिरूपं वा प्रथमं पदमेव वा।।
आख्यातपदमात्रं वा............।।[34]

इन मतों में **'वाक्यान्त्यो वर्ण एव वा'** द्वारा निर्दिष्ट मत अतिरिक्त है।

अब इस महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करेंगे कि **वैखरी** में आनुपूर्वीविशेषविशिष्ट वर्णसमुदायस्वरूप पदत्व और पदसमुदायस्वरूप वाक्यत्व की उत्पत्ति कैसे सम्भव है। **वैखरीस्वरूप** वर्ण तथा वर्णसमुदायात्मक पद की अनित्यता **औदुम्बरायण,** वैयाकरण और नैयायिक को भी मान्य है। यद्यपि पूर्वमीमांसक वर्ण को नित्य मानते हैं तथापि वर्णानुपूर्वी को नित्य कहना तर्कसंगत नहीं है। यास्क का– **'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'**[35] यह कथन स्पष्टतः आनुपूर्वी की अनित्यता प्रतिपादित करता है। यद्यपि वेद को ये पूर्वमीमांसक अपौरुषेय प्रतिपादित करते हैं तथापि लौकिक पदों–वाक्यों में आनुपूर्वी को नित्य नहीं कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में वर्णसमुदाय तथा पदसमुदाय की उपपत्ति कैसे हो सकती है ?

निरुक्त में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के भेद से पदों के चार प्रकार बतलाये गये हैं। इस पर **औदुम्बरायण** के शब्दानित्यत्ववाद के आधार पर अनेक आपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं और अन्त में सबका निराकरण दिया गया है। इसी मत का समर्थन न्याय वैशेषिक दर्शनों में किया गया है–

निरुक्त ग्रन्थ में उपलब्ध प्रसङ्ग निम्नलिखित है–

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः। तत्र पदचतुष्ट्वं नोपपद्यते'[36]। यह पहली आपत्ति है। इसका उपपादन इस प्रकार किया जा सकता है–

वर्णों का उच्चारण युगपत् नहीं किया जा सकता है। ऐसी दशा में अनित्यत्व पक्ष में प्रत्येक वर्ण की प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति और तृतीय क्षण ने उसका विनाश अवश्यम्भावी है। उदाहरणार्थ 'गौः' शब्द को ले सकते हैं। इसमें तीन वर्ण हैं– ग्, औ, और

---

33. वाक्यपदीय, 2.1-2
34. वाक्यार्थमातृका, 1.22
35. निरुक्त, 1.2.7
36. तत्रैव, 1.2.1

विसर्ग। इनमें से प्रथम क्षण में ग् की उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में ग् की स्थिति तथा औ की उत्पत्ति, तृतीय क्षण में ग् का विनाश, औ की स्थिति और विसर्ग की उत्पत्ति सम्भव है। चतुर्थ क्षण में औ का विनाश, विसर्ग की स्थिति होगी और पञ्चम क्षण में विसर्ग का भी विनाश हो जायेगा। पूर्व दो वर्णों का विनाश उत्तरोत्तर वर्णों से होता है। शब्द का वीचीतरङ्गन्यायेन सन्तान मानने पर भी पूर्व–पूर्व शब्द के कार्यभूत उत्तरोत्तर शब्द से ही उपान्त्य शब्द पर्यन्त का विनाश मान्य है, किन्तु अन्तिम शब्द का विनाश किससे होगा– यह एक समस्या है। इसका समाधान न्यायभाष्यकार ने यह किया है कि किसी चैत्यादि के साथ प्रतीघात से अन्तिम शब्द–वर्ण का विनाश होता है–

'तत्र कार्यः शब्दः कारणशब्दमभिरूणद्धि, प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्तु अन्त्यस्य शब्दस्य निरोधकः। दृष्टं हि तिरः प्रतिकुड्यमल्लिकस्थेनाप्यश्रवणं शब्दस्य, श्रवणं दूरस्थेनाप्यसति व्यवधाने।'[37]

अन्त्य वर्ण के नाश की दूसरी व्याख्यायें भी हैं[38]– एक यह है कि सुन्दोपसुन्दन्याय से अन्त्य से उपान्त्य का और उपान्त्य से अन्त्य शब्द का विनाश होता है। दूसरी व्याख्या यह है कि उपान्त्य के विनाश से अन्त्य का विनाश होता है। इन सबमें भाष्यकार **वात्स्यायन** का समाधान हमें उत्तम प्रतीत होता है।

इस प्रकार जब वर्णसमुदाय और पदसमुदाय उपपन्न ही नहीं है, तब पदों का चार विभाग कैसे किया जा सकता है ?

स्फोटवादी वैयाकरणों के लिए स्फोटव्यञ्जक **वैखरी** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, किन्तु विवर्त्तभूत **वैखरी** नित्य नहीं कही जा सकती है। इसी प्रकार **वैखरी**स्वरूप वर्णों की आनुपूर्वी भी अनित्य होगी। **'तेन प्रोक्तम्'** सूत्र के महाभाष्य में कहा भी गया है– **'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा त्वनित्या।'** **'परः सन्निकर्षः संहिता'**[40] सूत्र के भाष्य में विस्तृत रूप में यह प्रश्न चर्चित है–

'न हि वर्णानां पौर्वापर्यमस्ति। किं कारणम् ? एकैकवर्णवृत्तित्वाद् वाचः। उच्चरित–प्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्। एकैकवर्णवर्त्तिनी वाक्, न द्वौ युगपदुच्चारयति। गौरिति यावद् गकारे वाग् वर्त्तते, नौकारे न विसर्जनीये। यावदौकारे न गकारे न विसर्जनीये। यावद् विसर्जनीये न गकारे नौकारे। उच्चरितप्रध्वंसिनः स्वल्वपि वर्णाः। उच्चरितः प्रध्वस्तः, अथापरः प्रयुज्यते। न वर्णो वर्णस्य सहायः।

उपरिनिर्दिष्ट **महाभाष्य** सन्दर्भ में वाक् शब्द का अर्थ वागिन्द्रिय है। अवशिष्ट अंश स्वयं स्पष्ट है।

निरुक्त में **औदुम्बरायण** के शब्दानित्यत्व–पक्ष के विरूद्ध द्वितीय तथा तृतीय आपत्तियाँ क्रमशः निम्नलिखित हैं–

---

37. न्यायभाष्य, 2.2.35
38. तर्कभाषा
39. पा. सू., 4.3.101
40. तत्रैव, 1.4.109

'अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः' तथा **'शास्त्रकृतो योगश्च।'**[41]

इन दोनों वाक्यों में पूर्ववाक्यस्थ **'नोपपद्यते'** अंश अनुवृत्त है। अतः द्वितीय आपत्ति का तात्पर्य यह है–

शब्द को इन्द्रियनित्य, अर्थात् अनित्य मानने पर वर्णों और पदों की उत्पत्ति क्रमशः होगी। ऐसी दशा में उनका इतरेतरोपदेश उपपन्न नहीं होगा। इतरेतरोपदेश का अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थबोध में वैयाकरणों के अनुसार धात्वर्थ व्यापार प्रधान और सब पदार्थ गौण होते हैं। नव्य वैयाकरण कर्त्तृवाच्य में धात्वर्थ व्यापार और कर्मवाच्य में धात्वर्थ फल को शाब्दबोध में मुख्यविशेष्य मानते हैं। पूर्वमीमांसक तिङर्थ भावना को और नैयायिक प्रथमान्त पदार्थ को मुख्य विशेष्य कहते हैं। अर्थ की मुख्यता के आधार पर अर्थप्रतिपादक पदात्मक शब्दों में भी गुण–प्रधानभाव मान्य है। ऐसी दशा में यदि वर्णों को उच्चरित–प्रध्वंसी कहा जाय तो न पद बनेंगे और न पदसमूहस्वरूप वाक्य। एवञ्च पदों में प्रसिद्ध पदार्थद्वारक गुण–प्रधानभाव का शास्त्रीय उपदेश सर्वथा अनुपपन्न हो जायेगा। अत एव **दुर्गाचार्य** ने कहा है–

'न हि विनष्टं नाम गुणभावमियादाख्याते। नापि नष्टमाख्यातं प्रधानभावमियान्नाम्नि। न हि विनष्टाविनष्टयोरितरेतरगुणप्रधानभावोऽस्ति।'[42]

'शास्त्रकृतो योगश्च' इस **निरुक्त**–वाक्य में शास्त्र का अर्थ व्याकरणशास्त्र है। योग का अर्थ एकसूत्रात्मक व्याकरणशास्त्र का प्रत्येक सार्थक अंश है। यथा– **'वृद्धिरादैच्'** यह एक योग है, **'अदेङ् गुणः'** यह दूसरा योग। **'इको यणचि'** यह **पाणिनि**कृत योग अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट **इक्** के स्थान में **'यण्'** का विधायक है। शब्दानित्यत्ववादानुसार तो दो वर्णों का कार्योपयोगी पौर्वापर्य असम्भव है। अत एव **पाणिनि** आदि वैयाकरणों द्वारा रचित योग पूर्णतः अनुपपन्न हो जायेंगे। इस प्रकार शब्द को इन्द्रियनित्य, अर्थात् अनित्य मानने पर पदचतुष्ट्व, गुण–प्रधानभाव और वैयाकरणों द्वारा रचित योगों की अनुपपत्ति होने से **'इन्द्रियनित्यश्च'**–पक्ष असंगत है– यह है पूर्वपक्ष।

निरुक्तकार यास्क ने इस पूर्वपक्ष का अतिसंक्षिप्त समाधान किया है– **'व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य।'**[43]

इस पर **दुर्गाचार्य** ने विस्तृत व्याख्या लिखी है, किन्तु उनके वक्तव्य का संक्षिप्त रूप में उल्लेख किया जा रहा है–

..........शब्दः कण्ठादिस्थानेषु निष्पद्यमानः..................श्रोत्रद्वारेणानुप्रविश्य प्रत्याय्यस्य बुद्धिं सर्वार्थरूपां सर्वाभिधानरूपां व्याप्नोति इति व्याप्तिमान् शब्दः।.......... पुरुषप्रयत्नोपजनिताद् वक्त्रोद्घातात् परस्मार्थप्रत्ययम् आधाय शब्दव्यक्तय एव ध्वंसन्ते, न तु शब्दाकृतयः। तास्तु तयाभिधानशक्त्या बुद्धिद्वारेणावस्थिताः स्वानर्थान् प्रकाशयन्त्यः स्थिता एव भवन्ति। तासु

---

41. निरुक्त, 1.2.3
42. दुर्गाचार्य–निरुक्त, 1.2.2
43. निरुक्त, 1.2.4

साक्षात् परिसंख्यानं वर्त्तमानमितरासु विनाशिनीषु व्यक्तिषु लक्षणयोपचर्यते। तस्माद् व्याप्तिमत्त्वाच्छब्दस्य पदचतुष्ट्वापि सर्वमुपपद्यत एव।'

निरूक्तकार द्वारा उपस्थापित पूर्वपक्ष और **महाभाष्य** द्वारा उल्लिखित पूर्वपक्ष में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। अब दोनों के समाधानों में भी अत्यन्त साम्य को सुस्पष्ट करने के लिए महाभाष्योक्त समाधान की शब्दावली पर भी ध्यान देना होगा–

'एवं तर्हि–

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्त्ता धीरस्तन्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् बाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्।।

बुद्धिविषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यम्। इह य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यत्यस्मिन्नर्थे अयं शब्दः प्रयोक्तव्यः, अस्मिंस्तावच्छब्देऽयं तावद् वर्णः ततो ऽयं ततोऽयमिति।'[44]

दोनों आचार्यों का अभिमत समाधान यही है कि अनित्य वर्णों का पौर्वापर्य बुद्धिगत है, बाह्य स्तर पर नहीं।

एक महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि **महाभाष्यकार** ने इस प्रसङ्ग में वर्णाकृति की कोई चर्चा नहीं की है, जबकि **'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः'**[45] आदि कारिका की **हरिवृत्ति** में **दुर्गाचार्य** के समान आकृति का स्पष्ट उल्लेख है। सम्भव है कि **पस्पशाह्निक** आदि में की गयी आकृति की चर्चा का सम्बन्ध यहाँ भी हो, किन्तु स्पष्ट उल्लेख का अभाव विचारणीय अवश्य है।

अन्त में यह भी विवेचनीय है कि क्रमशः उत्पन्न तथा अपनी–अपनी उत्पत्ति के तृतीय क्षण में नष्ट होने वाले **वैखरीस्वरूप** वर्णों का क्रमशः उत्पन्न अनुभवों द्वारा क्रमिक संस्काराधान से होने वाले ये वर्णसमुदाय तथा पदसमुदाय किस प्रकार की बुद्धि के विषय होते हैं। क्या वह बुद्धि अनुभवस्वरूप है अथवा स्मृतिस्वरूप अथवा स्मृत्यनुभवोभयात्मक।

इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम वैयाकरणों के मत पर विचार किया जा सकता है, क्योंकि वैयाकरण यद्यपि स्फोटात्मक शब्द में ही अर्थप्रतिपादकता मानते हैं तथापि **स्फोट** के व्यञ्जन के लिए **वैखरी** की आवश्यकता तो उन्हें भी होती ही है। यह अभिव्यञ्जन क्रमरहित निरंश **स्फोट** का एक–एक **वैखरी** वर्ण से क्रमशः तो मानना सम्भव नहीं है। यदि व्यावहारिक दृष्टि से पदस्फोट भी मान्य हो तो भी सम्पूर्ण पद से ही **स्फोट** का पूर्ण अभिव्यञ्जन हो सकता है। यही स्थिति पदसमूहात्मक वाक्य की भी है। अतः उन्हें भी वैखर्य्यात्मक पदवाक्य की आवश्यकता है जैसा कि पूर्वोद्धृत **'परः सन्निकर्षः संहिता'** सूत्रस्थ **महाभाष्यवचन** से सुस्पष्ट है। अतः यह जानना आवश्यक है कि वैयाकरण किस रीति से वैखर्य्यात्मक पद और वाक्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रसङ्ग में **महाभाष्यकार** द्वारा **पस्पशाह्निक** में प्रस्तुत शब्द–लक्षण से प्रकाश पड़ जाता है। इस विवादग्रस्त विषय पर–

'श्रोतोपलब्धिः बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः।'

---

44. महाभाष्य, 1.4.101

45. वाक्यपदीय, 1.23

कैयट ने इसकी व्याख्या की है–

'पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकान्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य इत्यर्थः।'

इस व्याख्यान पर **भर्तृहरि** के निम्नलिखित वचन का स्पष्ट प्रभाव है–

नादैराहितवीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते।।[46]

वृषभदेव ने यहाँ प्रयुक्त परिपाक शब्द का यह अर्थ किया है–

'परिपाकः कार्योत्पादनं प्रति विशिष्ट आत्मलाभः।'

इसी प्रकार यदि **वृषभदेव** के ही इस पूर्वोद्धृत वक्तव्य पर ध्यान दिया जाये–

'सर्ववर्णग्राहकज्ञानादनन्तरं तु जातिग्राहकं ज्ञानं चरमविज्ञानम्।' तो यही स्पष्ट होगा कि सकलवर्णविषयक संस्कारों से सकलवर्णविषयक स्मरण ही चरमविज्ञान अथवा अन्त्यबुद्धि है। अतः वैयाकरणों का मत भी सकलवर्णविषया स्मृति को ही मानने वाला प्रतीत होता है। उद्धरिष्यमाण[47] **हरिवृत्ति** का संकेत भी इसी ओर है।

वाक्यपदीय की **हरिवृत्ति** की **पद्धतिनामक** टीका के रचयिता **वृषभदेव** ने कहा है–

'अत्रानेकं दर्शनम्। केचिन्मन्यन्ते– अन्त्यवर्णालम्बनं यज्ज्ञानं तत् पूर्ववर्णज्ञानाहित–संस्कारसहायं जातेर्ग्राहकम्। यद्यपि च तद्वर्णालम्बनत्वाद् वर्णाकारं तथाप्यभिव्यङ्गाभि–व्यञ्जकयोरवि जातिवर्णयोर्ग्राहकम्। यथा रूपग्राहकं ज्ञानं रूपालोकनयोः। अपरे मन्यन्ते–अन्त्यवर्णज्ञानसहितैः सर्वैरेव पूर्वपूर्ववर्णज्ञानैः संस्कारारम्भः। अन्त्यवर्णविज्ञानानन्तरं तु जातिग्राहकं ज्ञानमुत्पद्यते।'[48]

हरिवृत्ति में ऐसा कहा गया है कि–

'तत्रासत्यपि शब्दव्यक्तिसमवाये शब्दाकृतेर्वर्णावयवावग्रहप्राप्तसंस्काराभिः क्रमोत्पन्नाभिर्बुद्धिभिः पूर्वमगृहीता अव्यक्तं गृहीता वा संस्कृतेऽन्तःकरणे चरमविज्ञानेनाकृतिः परिच्छिद्यते। तस्यास्तु शब्दाकृतेरस्तित्वं शुकमारिकामनुष्यादिप्रयुक्तेषु वृक्षादिशब्दव्यक्तिविशेषेषु स एवायमिति प्रत्ययाभेदादनुमीयते।'[49]

इस हरिवृत्ति में प्रयुक्त 'चरमविज्ञानेन' पद का अर्थ करते हुये वृषभदेव ने स्पष्ट किया है कि–

---

46. वाक्यपदीय, 1.85
47. हरिवृत्ति, (उद्हरण सं. 47)
48. वृषभदेव, 1.23
49. हरिवृत्ति, 1.23

'सर्ववर्णग्राहकज्ञानादनन्तरं तु जातिग्राहकं ज्ञानं चरमविज्ञानम्। अत्रापि दर्शनद्वयम्। केचिन्मन्यन्ते—श्रौत्रविज्ञानमेतदिति। अन्ये तु मानसं ज्ञानमेतदिति।'

मानसज्ञान ज्ञान का स्मृतिस्वरूप ज्ञान अर्थ हैं। इस पक्ष के अनुसार क्रमोत्पन्न वर्णों का क्रमशः श्रावणप्रत्यक्ष होता है और तत्तद्वर्णविषयक संस्कार उत्पन्न होते हैं। जब अन्तिम वर्ण के प्रत्यक्ष से संस्कारोत्पत्ति हो जाती है तब समस्त वर्णविषयक संस्कारों से समस्त वर्णविषयक एक ही स्मृति उत्पन्न होती है और वही स्मर्यमाण पद शब्दानित्यत्ववादी दार्शनिकों के अनुसार अर्थबोधक है, कोई श्रूयमाण पद नहीं है। पदत्व के उपपादन के समान ही वाक्य का भी उपपादन कर वाक्यार्थ प्रतिपादन और तदनुसार वाक्यार्थबोध की संगति करनी चाहिए। सार यही है कि स्मर्यमाण पद और स्मर्यमाण वाक्य में ही इस पक्ष के अनुसार अर्थबोधकता है। इसे श्रौत्रविज्ञान कहने वालों का अभिप्राय यह है— आद्य वर्ण से लेकर उपान्त्य वर्ण तक का क्रमशः श्रावणप्रत्यक्ष होने के पश्चात् जब अन्त्य वर्ण का प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाला होता है तब वह प्रत्यक्ष पूर्व—पूर्व वर्णविषय सकल संस्कारों से सहकृत श्रोत्रेन्द्रिय से होने के कारण सकल वर्णविषयक होता है, केवल अन्त्यवर्णविषयक नहीं। इस प्रकार का अतीत और वर्त्तमान को युगपत् अपना विषय बनाने वाला प्रत्यक्ष 'सोऽयं देवदत्तः' आदि रूप में प्रसिद्ध है, जिसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। इन्द्रिय की प्रमुखता के कारण इसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। इसे स्मृति और अनुभव का मिश्रण नहीं। परन्तु मीमांसाश्लोकवार्त्तिककार ने इस पक्ष को भी मतान्तर के रूप में प्रस्तुत किया है कि आद्यवर्ण से लेकर उपान्त्य वर्णपर्यन्त वर्णों का स्मृत्यात्मक और अन्त्य वर्ण का श्रावणप्रत्यक्ष होने से पदविषयक ज्ञान स्मृति और अनुभव का सङ्कीर्ण स्वरूप वाला है। परन्तु अन्त में उन्होंने सकलवर्णानुभवजन्य संस्कारों से युगपत् स्मृत्यात्मक पदज्ञान को ही श्रेयस्कर माना है—

चित्ररूपां च तां बुद्धिं सदसद्वर्णगोचराम्।
केचिदाहुः यथा वर्णो गृह्यतेऽन्तः पदे पदे।।
तथान्त्यवर्णे संज्ञाते सर्वसंस्कारकारितम्।
स्मरणं यौगपद्येन सर्वेष्वन्ये प्रचक्षते।।[50]

प्रसिद्ध टीकाकार पार्थसारथि मिश्र ने द्वितीय पक्ष को ही भट्ट का अभिप्रेत कहा है। अत एव शास्त्रदीपिका में उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है—

'प्रत्येकवर्णानुभवभावितैः संस्कारैस्संहत्य सर्ववर्णगोचरा एका स्मृतिर्जायते।'[51]

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का भी यही अभिप्रेत है। न्यायसूत्र के तृतीयाध्यायान्तर्गत प्रथम आह्निक के तृतीय सूत्र के भाष्य में उन्होंने कहा है—

..............क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्वा पदवाक्यभावेन प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थां च बुद्ध्यमानः............।'[52]

---

50. मीमांसाश्लोकवार्त्तिक—स्फोटवाद, 111-112
51. शास्त्रदीपिका—तर्कपाद, पृ. 96
52. न्यायभाष्य, 3.1.3

तथा ज्ञान के अयौगपद्य का समर्थन करते हुये **'अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात्'** सूत्र की व्याख्या करते हुये उनका कथन है कि–

'वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति। श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन स प्रतिसन्धत्ते। प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति। पदव्यवसायेन स्मृत्या पदार्थं प्रतिपद्यते। पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वाक्यं व्यवस्यति। सम्बद्धांश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते।

किन्तु **तर्कभाषाकार केशवमिश्र** ने पदादिविषयक बुद्धि को प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष के समान स्मृति–अनुभव–का मिश्रण मानते हुये मुख्यतः श्रावणप्रत्यक्षात्मक कहा है–

'तत्र वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेनैकदा ऽनेकवर्णानुभवासम्भवात् पूर्वपूर्ववर्णान् अनुभूय अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेनान्त्यवर्णसम्बद्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहणानुगृहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते, सहकारिसामर्थ्यात् प्रत्यभिज्ञावत्। प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे हि अतीताऽपि पूर्वावस्था स्फुरत्येव।'[53]

परन्तु **मुक्तावलीकार विश्वनाथ पञ्चानन** ने **न्यायभाष्यकार** द्वारा प्रतिपादित मत का ही अनुसरण किया है। यह उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है–

'प्रत्येकपदानुभवजन्यसंस्कारैश्चरमतावद्विषयकस्मरणस्याऽव्यवबधानेनोपपत्तेः।'[54]

इस प्रकार स्पष्ट है कि नैयायिकों में अधिकतर आचार्य समस्तवर्णविषयक स्मरण के ही समर्थक हैं, न कि श्रावणप्रत्यक्षात्मक अनुभव के या स्मरणानुभवद्वयस्वरूप चित्राकाश बुद्धि के। **वाचस्पति मिश्र** ने भी अपने **'तत्त्वबिन्दु'** ग्रन्थ में–

'प्रत्येकवर्णानुभवभावितभावनानिचयलब्धस्मृतिदर्पणारूढा वर्णमालेत्यन्ये'[55] कहकर इसी पक्ष का समर्थन किया है। **मण्डनमिश्रकृत स्फोटसिद्धि** की टीका में ऋषिपुत्र **परमेश्वर** ने लिखा है–

'अवधारणं समस्तवर्णविषयं स्मरणमित्याचक्षते। परमार्थतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवैतत्, ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजन्यत्वात्। न अन्यथा स्फुटप्रकाश उपपद्यते।'[56]

इससे स्पष्ट है कि **तर्कभाषाकार** के समान ऋषिपुत्र **परमेश्वर** भी पदादिविषयक ज्ञान श्रावणप्रत्यक्षस्वरूप मानते हैं, यद्यपि सकलवर्णविषयक स्मरण का उल्लेख भी इन्होंने किया ही है। **प्रकरणपञ्चिका** के रचयिता प्राभाकरमीमांसक **शालिकनाथ मिश्र** भी सर्ववर्णविषयक स्मरण के ही पक्षधर हैं। यह विषय **सुब्रह्मण्य शास्त्री** द्वारा सम्पादित **प्रकरणपञ्चिका** की टिप्पणी में निर्दिष्ट है।[57]



---

53. न्यायभाष्य, 3.2.58
54. तर्कभाषा, पृ. 18.19
55. तत्त्वबिन्दु, पृ. 7
56. चारूदेवशास्त्री द्वारा वाक्यपदीय, 1.85 की टिप्पणी में उद्धृत (पृ. 133)
57. प्रकरणपञ्चिका–परिशिष्ट, पृ.–416 (का. हि. वि. वि., वाराणसी– 1961 ई.)